प्रकरण :५

सांगीतिक सौन्दर्य एवं रसमयता के परिप्रेक्ष्य में रचनात्मक विचार-विमर्श एवं संभवित सुझाव

५.१ : सौन्दर्य एवं रसमयता संबंधी रचनात्मक विचार-विमर्श।

५.२ : सौन्दर्य एवं रसमयता के परिप्रेक्ष्य में संगीत की परिष्कृति के संभवित सुझाव।

५.१ : सौन्दर्य एवं रसमयता संबंधी रचनात्मक विचार-विमर्श

प्राचीन काल से लेकर अब तक संगीत के उद्भव एवं विकास पर दृष्टिपात करने से विदीत होता है, कि यद्यपि बीच-बीच में संगीत के विकास में बहुत सी बाधाएँ उत्पन्न हुई, तथापि संगीत का क्षेत्र उत्तरोत्तर विकसित होता ही गया।

प्राचीन काल में संगीत को दैवी विद्या मानकर संगीत एवं संगीतज्ञों को अत्यंत सन्मानीय स्थान दिया गया। मध्यकाल में संगीतज्ञों को समाज में सम्मान प्राप्त नहीं हो पाया। लोग संगीत पसंद करने के बावजूद भी कलाकारों को हेय की दृष्टि से देखते थे। किन्तु कालक्रम से संगीत कला ने शनै-शनै बृहद् रूप धारण किया और जो केवल थोड़े से व्यावसायिक व्यक्तिओं तक सीमित था, वह आधुनिक समाज में एक महत्त्वपूर्ण विषय बन गया।

आधुनिक युग में संगीत कला में पारंगत होना एक विशेष गुण माना जाता है। कलाकार का विशेष सम्मान होता है। अब संगीत का क्षेत्र सीमित न होकर सार्वभौमिक हो गया है। वह शैक्षिक संस्थाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित हुआ है। सहस्त्रों की संख्या में विभिन्न आयु के लोग संगीत-शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। समाज में संगीत के प्रति प्रेम दृढ़ हो रहा है। वर्तमान काल में संगीत की प्रगति देखकर यह विश्वास किया जा सकता है, कि संगीत का भविष्य अत्यंत उज्ज्वल है। वह समय के साथ और भी परिवर्धित एवं परिष्कृत होता जाएगा।

वर्तमान समय में भारतीय शास्त्रीय संगीत का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। विदेशों में भी इस संगीत के प्रति गहरा आकर्षण है। भारतीय शास्त्रीय संगीत का चाहक वर्ग बहुत बड़ा है, उसमें कोई संदेह नहीं। परंतु, साथ-साथ इस बात को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता, कि अन्य संगीत-प्रकारों की तुलना में शुद्ध शास्त्रीय संगीत में रुचि रखने वाले लोगों की संख्या कम है और चिंता का विषय यह है, कि वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी कम ही होती जा रही है। हरेक प्रकार के संगीत की निजी

विशेषता है, स्वभाव है और आकर्षक तत्त्व है। शास्त्रीय संगीत लोक संगीत तथा सुगम संगीत की अपेक्षा जटिल है, उस बात को भी टाला नहीं जा सकता। लोक संगीत और सुगम संगीत शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा काफी सरल होने के कारण लोकभोग्य है। परंतु शास्त्रीय संगीत भी रस-प्रद ही है, उसमें कोई संदेह नहीं। यदि रस-हानि के पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित करके प्रस्तुति की जाए, तो शास्त्रीय संगीत भी रसमयता के परिप्रेक्ष्य में अधिक प्रबल सिद्ध हो सकता है।

संगीत कला में रंजकता एक ऐसा गुण है, जो प्रत्येक अवस्था में आत्म-विभोर कर देता है। संगीत में निहित विभिन्न घटकों एवं सौन्दर्यवर्धक तत्त्वों से रस-तत्त्व के संबंध में विस्तृत चर्चा करने के पश्चात यह स्पष्ट है, कि संगीत में प्राणी के स्थायी भावों को जागृत कर उसे रस मानकर सौन्दर्य उत्पन्न करने की क्षमता है। परंतु यह कलाकार की क्षमता तथा कौशल्य पर भी निर्भर करता है, वह निश्चित है। अन्यथा संगीत रस-हानि का कारण बन सकता है।[१]

कलाकार की क्षमता का सब से बड़ा आधार शिक्षक - गुरु - की क्षमता है। गुरु की विद्वत्ता, समग्रलक्षी ज्ञान का प्रभाव निश्चितरूप से शिष्य की - कलाकार की प्रस्तुति को समग्रलक्षी परिप्रेक्ष्य में उत्कृष्ट बनाता है। पंडित नित्यानंद हल्दीपूर ने कहा है, "गुरु आराध्यदेव है। जब तक राग-ज्ञान गुरु से नहीं प्राप्त होता, तब तक वह सधता नहीं।"[२] वर्तमान समय में कुछ विद्यार्थी या नवोदित कलाकार कई आधुनिक माध्यमों से कुछ न कुछ सीखने का प्रयास करते रहते हैं। उसमें कुछ अनुचित नहीं है, पर उसे संपूर्ण मान लेना अनुचित है। संगीत गुरुमुखी विद्या है, जो सीना-ब-सीना बैठकर गुरु से ग्रहण की जाती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष शिक्षा होने पर ही कलाकार का समग्रलक्षी विकास हो सकता है, जो उसकी कला को आकर्षक, रसप्रद बनाता है।

गुरु-शिष्य का परस्पर संबंध विश्वास की डोर से बँधा हुआ होना चाहिए। इसे psychologically - मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी देखें, तो शिष्य से असंतुष्ट गुरु की

शिक्षा में कभी विद्या-दान का भाव नहीं आ पाता। उसी प्रकार गुरु पर अश्रद्धा हो, तो शिष्य में विद्या-ग्रहण करने का, समर्पित होने का भाव नहीं आ पाता। ऐसे में तालीम ही भावपूर्ण नहीं हो पाती, तो प्रस्तुति कैसे रसप्रद हो सकती है !

पंडित जगदीश नारायण पाठक के अनुसार, "जिसका सबसे अधिक महत्त्व है, वह है, सिद्ध अथवा गुरु का ज्ञान और साधक की श्रद्धा। जो मिकलर साधक को सिद्ध बनाने में सहायता करती है। शास्त्रीय ज्ञान तो पुस्तकों द्वारा भी ज्ञात हो सकता है परंतु जो कंठ से व्यक्त करना है, जिसे सुनकर राग का रस ज्ञात होता है, वह तो गुरु-मुख से ही संभव है। अतः आज यदि हमें नीरसता ही प्राप्त होती है तो उसके दोषी वे तपस्वी कदापि नहीं हैं जिन्होंने रस को ही आधार मानकर राग निर्माण किया था। वरन् वे शिष्य हैं जो गुरु के बताये मार्ग को तजकर स्वेच्छा से ढूँढे मार्ग पर चलते हैं और इस भाँति रसपूर्ण मार्ग खोकर नीरस बन जाते हैं।"[३]

उपरोक्त कथन गुरु के ज्ञान के उपरांत कलाकार-रूपी शिष्य की श्रद्धा और साधना का रस-निर्मिति पर क्या प्रभाव है, वह स्पष्ट करता है।

पंडित सुरेश तलवलकर के अनुसार भारतीय संगीत शास्त्र, तंत्र, विद्या और कला से बँधा हुआ है। उनके अनुसार शास्त्र समजाया जाता है, तंत्र सिखाया जाता है, विद्या दी जाती है और कला संस्कारित की जाती है।

उपरोक्त मंतव्य से भारतीय संगीत एवं उसकी शिक्षा की सर्वत्रिकता स्पष्ट होती है, जो गुरु-मुखी शिक्षा की अनिवार्यता दर्शाती है।

कला वस्तुतः अत्यंत ऋजु, नजाकतपूर्ण विधा है। रसनिष्पत्ति के लिए भावुकता अनिवार्य है। कलाकार की प्रकृति, स्वभाव में ऋजुता, नजाकत, भावुकता, इत्यादि गुणों का होना कला की उत्कृष्टता में अभिवृद्धि करता है। पंडित सुरेश तलवलकर कहते हैं, "बच्चे-सा innocence चाहिए, संगीत के लिए।"[४] साथ-साथ

विशालता, गहनता भी आवश्यक है। इसके उपरांत, अति महत्त्वपूर्ण बात है स्वतंत्रता, स्वतंत्र कल्पना-शक्ति, स्वतंत्र विचार-क्षमता। गुरु से तालीम अवश्य ग्रहण करना है, पर उनके द्वारा सिखाई गई चीज़ पर स्वयं भी विचार-कल्पना करने के लिए सक्षम होना आवश्यक है। शिष्य गुरु की प्रतिकृति होता है, पर स्वयं वही तो नहीं है। इसी प्रकार उसकी कला गुरु की दी हुई सीख है, पर स्वयं उन्हीं की प्रस्तुति नहीं। गुरु का हुबहु अनुकरण कलात्मक दृष्टि से परिपूर्ण होगा, उनके अनुभव से वह कला अत्याधिक सौन्दर्यपूर्ण भी होगी, परंतु कमी रह जाएगी। क्योंकि उसमें स्वयं की अनुभूति, भावनाएँ शामिल नहीं होगी। भाव ही रस-निष्पत्ति का आधार है, मूल है। अतः उसकी अनुपस्थिति से केवल अनुकरण शुष्क हो जाता है, यांत्रिक हो जाता है। नीरस हो जाता है। भारतीय संगीत का उपज अंग यही स्वतंत्र कल्पना-विचार शक्ति को अनुमोदन देता है। भारतीय संगीत वैयक्तिक अनुभूति, भावनाओं को अभिव्यक्त करने का अवसर देता है, जिसके बारे में कलाकार जागरूक हो, वह सराहनीय है।[५]

इसी से संलग्न पंडित सुरेश तलवलकर जी के विचार काफी सराहनीय एवं स्पष्ट हैं। उन्होंने कहा है, “बंदिश, जो कि अविस्तारक्षम या पूर्व विकसित रचना है, उसमें रचनाकार दिखता है। गायकी या बढ़त, जो कि विकासशील है, उसमें कलाकार दिखता है। बंदिश संगीत का मूर्त रूप है, गायकी (बढ़त) संगीत का अमूर्त रूप है।” उन्होंने उपज अंग और प्रस्तुति की समझ का महत्त्व स्पष्ट करते हुए कहा है, “कभी कभी बजाने का ढंग इतना अच्छा होता है, कि साधारण-सी बंदिश भी सुन्दर, आकर्षक लगती है।” यही बात गायन तथा नर्तन विधा के लिए भी उपयुक्त है। साधारण बंदिश को यदि कलाकार अपनी कल्पना से बेहलाव, आलाप, तान, झाला, अभिनय, इत्यादि से सजाकर प्रस्तुत कर पाए, तो वह भी अत्यंत रसपूर्ण बन जाती है।[६]

कलाकार की तन्मयता भी रसनिष्पत्ति के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। पंडित जगदीश नारायण पाठक के शब्दों में, “संगीत की सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि

संगीतज्ञ इसमें जितना ही प्रवेश करता है, उतना ही अधिक रस उसको मिलता है।" स्वयं रसानुभूति करने पर निश्चित रूप से रसिक-गण को भी वह अनुभूति दे पाएगा।[७]

रसानुभूति के लिए, विशेषतः उसकी पराकाष्ठा के लिए रसिक की संवेदनशीलता एवं कल्पना-शक्ति भी महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। सब कुछ स्पष्ट-रूप से कला में कहा नहीं जाता। अतः जो अनकहा है, गूढ़ार्थ है, उसे समजने, अनुभव करने के लिए श्रोता या दर्शक में विशेष संवेदनशीलता और कल्पना-शक्ति होनी चाहिए। बहुत कुछ अनकहा है, यही ध्वनि-सिद्धांत का मर्म है। 'ध्वन्यालोक' में कहा भी है, कि जो केवल शब्द का अर्थ समजते हैं, वे काव्य को नहीं समज पाएँगें।

"शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्।।"

अर्थात्, शब्द का अर्थमात्र समजने से पूरा काम नहीं बनेगा, केवल शब्दार्थ के अनुशासन को जो जनता है, उसे काव्य का मर्म नहीं समज आएगा।

सहृदय होगा, तो ही ये अनकहा गूढ़ार्थ, मर्म समझेगा। वैसे भी जो अस्पष्ट या अर्धस्पष्ट अर्थ है, उसे हर व्यक्ति अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार समझता है। देश-काल-पात्र के अनुसार उसके अलग-अलग अर्थ हुआ करते हैं।[८]

संवेदनशीलता, कल्पना के उपरांत एक-ध्यान होना भी रसिक के लिए आवश्यक है। विशेषतः संगीत में इसलिए, क्योंकि वह चल कला है। कृति सतत बदलती - चलती रहती है। उस में एक क्षण बीतने पर आने वाला क्षण नवीन होता है। यदि बंदिश की प्रस्तुति में स्थाई के समय ध्यानभंग हो गया, तो उसके बाद अंतरा का भाव, अर्थ पूर्णतः अनुभव नहीं होगा, समज नहीं आएगा। अभिव्यक्ति के साथ तन्मय होने पर ही उसकी अनुभूति संभव है। उसके उपरांत, जो प्रस्तुत हो रहा है, उससे रसिक का परिचित होना भी रसानुभूति में लाभकारक है। अत्यंत अप्रचलित

राग की तुलना में प्रचलित, लोकभोग्य राग की प्रस्तुति आम रसिक-वर्ग को अधिक आनंद दे सकती है। थोड़ा सा संगीत सीखे हुए विद्यार्थी भी अनजान रसिक की अपेक्षा अधिक आनंद ले सकते हैं। यदि रसिक स्वयं कलाकार हो, तो बेहतरीन; क्योंकि वे भाव एवं कला - दोनों पक्ष को सराह सकते हैं। समझदार रसिक को देख कलाकार के आनंद में अभिवृद्धि होती है। इसी के साथ, यह भी सच है, कि जिन्होंने कभी भारतीय शास्त्रीय संगीत सुना / देखा नहीं, ऐसे पाश्चात्य लोग भी इसका आनंद ले सकते हैं। यह कलाकार की क्षमता है, कि रस-तत्त्व का ख्याल, जतन इस प्रकार से करे, कि प्रस्तुति अनभिज्ञ होने पर भी, समज न आने पर भी आकर्षक लगे, रसपूर्ण लगे। उल्लेखनीय है, कि यदि रसिक के ज्ञान से टीका ही होने वाली है, तो वह रस-हानि का प्रबल कारण भी बन सकती है।[९]

रसानुभूति को संभव बनाने के लिए अनिवार्य है कलाकार एवं रसिक की कल्पना एवं अपेक्षा का उचित मेल। कलाकार जो कहता है, वह रसिक अनुभव कर पाए, इतना ही आवश्यक यह भी है, कि रसिक की रुचि का, अपेक्षा का कलाकार को अंदाज़ा हो, समझ हो। रसिक की रुचि के अनुसार न होने पर कितनी भी उत्कृष्ट प्रस्तुति नीरस सिद्ध हो जाती है। इसलिए रसिक की समझ, स्तर, अपेक्षा, भाव-जगत समझना आवश्यक है। इसका सरल उदाहरण है, श्रद्धांजलि के समय कलाकार करुण-शांत रस प्रधान संगीत ही परोसेगा, क्योंकि वही अपेक्षित है। उसी प्रकार विवाह के समय उल्लासपूर्ण श्रृंगार-हास्य रस प्रद गीत गाए जाएँगें। अति नामी लोकप्रिय कलाकारों की सफलता का राज़ यही है, उन्हें मेहफ़िल में बैठे श्रोता / दर्शक गण को एक-नज़र देखकर अंदाज़ा आ जाता है, कि उन्हें क्या, कैसा, किस तरह से पसंद आएगा। रसिक का भी सुज्ञ होना सराहनीय है। यदि कलाकार पूर्णतः उनकी अपेक्षा को न्याय न दे पाए, तब भी जो प्रस्तुत हो रहा है, उसका आनंद लेने का प्रयास भी रसानुभूति दे सकता है।

स्टेवर्ट मॅकफेसर्न (Stewart Macpherson) के कथनानुसार,"There can be no impression without a corresponding expression, but it is equally true to say that there can be no expression without a previous impression."

अर्थात्, प्रभाव किसी अभिव्यक्ति के बिना संभव नहीं और अभिव्यक्ति किसी प्रभाव के बिना संभव नहीं। तात्पर्य यह है, कि किसी भी प्रभाव के पीछे पहले हुई कोई घटना या उसकी अभिव्यक्ति निहित है, उसी प्रकार अभिव्यक्ति भी कोई न कोई पूर्व-घटना के प्रभाव पर ही आधारित है। इस प्रकार अनुभूति और अभिव्यक्ति परस्पर कार्य-कारण संबंध से बद्ध है, ऐसा कहा जा सकता है।[१०]

वास्तविक जगत के किसी पदार्थ या घटना से संलग्न ध्वनि के अनुरूप ध्वनि का प्रयोग गायन, वादन या नर्तन में करने से उसी पदार्थ या घटना की स्मृति रसिक को तादृश्य होती है। परिणाम स्वरूप उस समय की अनुभूति का प्रभाव पुनः जागृत होकर वही अनुभूति फिर से करवाता है। हालाँकि रसिक को ज्ञात होता है, कि यह अनुकरण है, परंतु फिर भी उसका प्रभाव पड़ता है। उदाहरण स्वरूप, 'बैरी कोयलिया कूक सुनाए' गाने के साथ 'कूक' शब्द कोयल की आवाज़ का अनुकरण करने करने की तरह गाया जाए, तो श्रोताओं को वास्तविक कोयल की कूक याद आएगी और वही आनंद होगा, जो उसे प्रत्यक्ष सुनने पर हुआ था। वाद्य-संगीत में भी वाद्य की प्रकृति, क्षमता के अनुरूप ऐसे प्रयोग किये जाते है। तबले पर रेलगाड़ी, कूच, इत्यादि की ध्वनि, तंतु वाद्यों पर धनुष्य की टंकार या किसी पक्षी की चहक की ध्वनि, इत्यादि प्रस्तुत करने के कई प्रयोग होते हैं, जो आम रसिक-वर्ग को खूब भाता है। वाद्य-वृंद के अंतर्गत इस प्रभाव का उपयोग विपुल प्रमाण में होता है, हो सकता है। विशेषतः विषयलक्षी वाद्यवृंद में। उसमें झरने की अनुभूति देने संतूर, तांडव की अनुभूति देने मृदंगम्, शिव की अनुभूति देने डमरू, मंदिर या आरती की अनुभूति देने घंट, मंजिरा का प्रयोग, इत्यादि का चलन है, जो वाकई में काफी प्रभावपूर्ण है। नर्तन के साथ होने

वाली संगत में भी उपरोक्त वाद्यों के प्रभाव का काफी उपयोग होता है। गायन-वादन में जो चीज़ ध्वनि-वैविध्य से तादृश्य करवाई जाती है, उसे नर्तन में अभिनय से भी दर्शाया जा सकता है। झरने का, या बिजली का, या हाथी का, ऐसे अनेक अभिनय वास्तविक स्वरूप की याद दिलाते हैं और उस स्मृति से इस अभिव्यक्ति का अनुबंध रसानुभूति का कारण बनता है।[११]

इसी प्रकार स्वर एवं स्वर-संयोजनों के माध्यम से विभिन्न समय तथा ऋतुओं की अभिव्यक्ति भारतीय, विशेषतः उत्तर हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति की निजी विशेषता है। मल्हार के प्रकार वर्षाऋतु की अनुभूति तादृश्य कराते हैं, बसंत, बहार, आदि बसंत ऋतु की। भैरव प्रातःकालीन, मारवा सायंकालीन प्रकृति की अनुभूति देता है। सारंग दुपहरी की, मालकौंस मध्यरात्रि की अनुभूति देता है। अभिनय प्रहर-ऋतुओं की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति करता है। वर्तमान समय में मानव जिस प्रकार निवासित एवं कार्यरत है, उसमें उसका प्रकृति से नाता छूट गया है। उसे प्रहर और ऋतुओं का वास्तविक सौन्दर्य अनुभव करने के लिए न तो समय है, न ही गुंजाईश। इस परिस्थिति में संगीत का यह प्रभाव काफी आनंददायी सिद्ध होता है। प्रकृति से नैकट्य आनंदानुभूति का सटीक मार्ग है।

सांगीतिक प्रस्तुति के दौरान यह ध्यान रखना चाहिए, कि कौन-सा रस किस रस से मिश्रित हो सकता है। नर्तन में इसे अक्सर ध्यान में लिया जाता है, पर गायन-वादन में प्रायः अनदेखा कर दिया जाता है। जैसे कि, करुण अथवा रौद्र रस में हास्य रस का मिश्रण किया, तो बिलकुल विरोधाभास हो जाएगा। जैसे दूध में नमक। महर्षि भरत ने कहा है, कि

"श्रुंगारा तु कृतिर्या तु स हास्य इति संज्ञितः।
रौद्रस्यापि तुचयत् कर्म स ज्ञेयो करुणो रसः।।
वीर स्थापिच यत् कर्म सोऽद्भुतः परि कीर्तियः।
बीभत्स दर्शनं यच्य भवेत् सतु भयानकः।।"

इस प्रकार रस में जो अन्य रस दिखते हैं उनका मिश्रण योग्य होगा। और भी संभव है, पर बिलकुल विरोधाभास अंत में रस-निष्पत्ति नहीं कर सकता। मेहफ़िल में प्रस्तुत करते समय कौन-से राग के पश्चात कौन-सा राग सुप्रभावी होगा यह गायक-वादक सदैव सोचते हैं। इसका करण राग का रस, निजी प्रभाव ही होता है। इन तत्त्वों को जिसने नहीं समझा है, वह मेहफ़िल में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। संभव है, कि सुप्रसिद्ध गायक-वादक राग-रस संबंधी प्रश्नों के उत्तर शब्दों से शायद ठीक तरह न दे सकें। परंतु प्रत्यक्ष रूप से जब क्रियात्मक प्रस्तुति होती है, तब वे रस-तत्त्व को बखूबी निभाते हैं। यह बात सभी कलाओं के लिए सत्य है। सैद्धांतिक ज्ञान न होने पर भी कलाकृति रसपूर्ण हो सकती है और होने पर भी कलाकृति नीरस हो सकती है। सैद्धांतिक ज्ञान सराहनीय है, परंतु क्रियात्मक विवेकबुद्धि आवश्यक है। कला में क्रियात्मक प्रयोग के बिना शास्त्र का अर्थ नहीं है। "आधी करावे मग लिहावे वा वदावे।" अर्थात्, पहले करना, पश्चात लिखना अथवा कहना।

राग संगीत का प्रभाव 'उत्पयते विलीयंते' प्रकार का नहीं है। वह जो भी कुछ होता है, सदैव के लिए दृढ़ होता है। फिर वह रस-पूर्ण स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और व्याभिचारीभाव का योग्य विचार कर प्रस्तुत किया जाए, तो शास्त्रीय संगीत रुचिकर नहीं है, ऐसा नहीं लगेगा।[१२]

स्वरलिपि और बाद में विकसित हुई नर्तनलिपि को संगीत जगत ने आशीर्वादरूप शोध माना है और उसका विपुल प्रमाण में उपयोग किया है। परंतु उसे प्रत्यक्ष गायन-वादन-नर्तन से सीखने का विकल्प नहीं माना जा सकता। ठाकुर जयदेव सिंह ने, स्वयं पंडित भातखंडे - जो कि वर्तमान अतिप्रचलित स्वरलिपि के प्रणेता है - से इस विषय पर बात-चीत की थी, वह इसका प्रमाण है। उन्होंने एक मुलाकात में पंडितजी को सुनकर कहा, "पंडितजी, आपने तो ऐसा लिखा नहीं है ?!" तो पंडितजी ने कहा, "मैं क्या, (स्वयं) ब्रह्मा उतर आवें तो (भी) ऐसा नहीं लिख सकते। यह तो एक

आउट लाइन है।" वास्तव में यह केवल एक ढाँचा है, ध्वनि को कभी हम लिपि में नहीं बाँध सकते। संगीत की कठिनाई यही है, कि शब्द का, आकार-रूप-रंग का तो अर्थ समज आता है; परंतु ध्वनि के लिए ये संभव नहीं। स्वर का लगाव, आवाज़ का लगाव, कैसा होता है, इसी में तो निहित है रस। यदि स्वर का लगाव हम नहीं जानते, आवाज़ का लगाव नहीं जानते, तो रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती। इसीलिए रस-निष्पत्ति के लिए सीना-ब-सीना तालीम ज़रूरी है। सिर्फ स्वरलिपि पढ़कर संगीत-रचना का पूर्ण स्वरूप समजना असंभव है, आधुनिक समय में ध्वनि-मुद्रण एवं ध्वनि-दृश्य-मुद्रण की सुविधा व्यापक हुई है, जो सिर्फ स्वरलिपि या नर्तनलिपि से अत्याधिक असरकारक सिद्ध होती है।[१३]

कभी-कभी वर्तमान समय में शास्त्रीय संगीत के कलाकारों में रस-तत्त्व के प्रति जागरूकता का अभाव पाया जाता है। रस के प्रति उदासीनता पाई जाती है। परंपरागत अनुकरण होता रहता है, पर रस-निष्पत्ति को नज़र-अंदाज़ सा कर दिया जाता है। यह अनीच्छनीय है। रसिक को रसानुभूति करवाना कला का उद्देश्य है, और कलाकार का धर्म। छोटे-छोटे अनेक पहलू हैं, जिन का खयाल रखने से संगीत कला की प्रस्तुति रसप्रद बन सकती है।

सांगीतिक प्रस्तुति में लक्ष्य भाव-प्रदर्शन हो, वह सराहनीय है, न कि तकनीक-प्रदर्शन। तकनीकों का प्रयोग अवश्य आवश्यक है, परंतु रस-भाव को ध्यान में लेकर उसके अनुरूप होना चाहिए। अपनी क्षमता दिखाने के लिए तकनीकों का अत्याधिक प्रयोग साहजिक सौन्दर्य एवं रस-तत्त्व पर नकारात्मक असर करता है। पंडित सुरेश तलवलकर जी के इस संबंध में विचार सराहनीय हैं : "गाना-बजाना कितना भी टेकनीकल हो, आखिर हृदय से आता है। संगीत स्वयं को देखने की चीज़ है, किसी को दिखाने की नहीं।"[१४] बंदिश, राग, रस, भाव इत्यादि को समझकर विभिन्न तकनीकों का उपयोग होना चाहिए। कला भाव्यभिव्यक्ति का माध्यम बनी रहे, वही इच्छनीय है।

गायन एवं नर्तन की बंदिशों में शब्द और राग के स्वभाव, रस, भाव का सायुज्य होना सराहनीय है। शब्द के अर्थ के अनुरूप भावयुक्त स्वर-संयोजन रस-निष्पत्ति की उत्कृष्टता की ओर ले जाता है।

शब्दों का उच्चारण सु-श्रवणीय होना आवश्यक है। स्पष्ट उच्चारण ही अर्थबोध करवाता है, जो रस-भाव का वाहक है। शब्दों की पुनरावृत्ति भी इस तरह से होनी चाहिए, जिससे रस-हानि न हो, बल्कि रस में अभिवृद्धि हो।

शब्द - साहित्य - के विषयवस्तु का व्यापक होना आवकार्य है। व्यापक अर्थयुक्त साहित्य रस-भाव के क्षेत्र की व्यापकता में वृद्धि करता है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत की प्रस्तुति में लय का अतिरेक भी क्षमता-प्रदर्शन का एक साधन-सा बन गया है। उससे एक विशिष्ट ताज्जुबी, चमत्कृति अवश्य होती है, अतः अति द्रूत लय में गायन-वादन-नर्तन की प्रस्तुति में कुछ अनुचित है, ऐसा नहीं। पर बंदिश या राग के भाव को, रस को समझकर लय का प्रयोग हो, वह उत्कृष्ट रसाभिव्यक्ति की आवश्यकता है। हरेक रस के लिए द्रूत या अति द्रूत लय अनुकूल नहीं है।

विभिन्न लयकारी एवं तानों का प्रयोग, तत् कार (कथक में) भी चमत्कृति का अनुभव करवाते हैं। पर इनका प्रयोग भी राग, बंदिश के भाव के अनुरूप हो, वही सराहनीय है। अप्रचलित, कठिन राग या रचना की प्रस्तुति उन्हें अच्छी लगती है, जो संगीत के ज्ञाता है। आम रसिक-वर्ग कभी-कभी उसका आनंद नहीं ले पाते, क्योंकि वह उन्हें बिलकुल अपरिचित मेहसूस होता है। विद्वत्ता-प्रदर्शन हेतु ऐसी प्रस्तुति देना रसानुभूति के परिप्रेक्ष्य में निरर्थक हो जाता है। कभी-कभी सरलता में जो सौन्दर्य उभर आता है, वह और कहीं नहीं मिल पाता। अतः यदि आम रसिक उपस्थित हो, तो उस का ज्ञान, क्षमता को ध्यान में लेकर लोकप्रिय एवं लोकभोग्य राग, रचना का चयन करना चाहिए।

प्रस्तुति के दौरान जो समयावधि दी गई हो, उसीके अंदर सभी आयामों को समाविष्ट करके, प्रत्येक को योग्य न्याय देना चाहिए। किसी एक आयाम को अधिक समय देकर अन्यों को न्यूनतम समय देना या छोड़ देना प्रस्तुति को अपूर्ण बनाता है। भाव-रस को ध्यान में लेकर किस चीज़ को कितनी देर तक प्रस्तुत करना चाहिए, उसे ध्यान में रखना है। उदाहरण स्वरूप, आलाप-प्रधान राग में आलाप अधिक समय तक करना चाहिए, करुण रस-प्रधान बंदिश के साथ आलाप अधिक, तान कम हो, तो स्वाभाविक लगता है, इत्यादि।

कलाकार को मुद्रादोष से बचना चाहिए। संगीत रत्नाकर में गायक-वादक के गुण-दोष के अंतर्गत साँसे फूलना, मुँह बिगाड़ना, विचित्र भाव-भंगिमा बनाना, हाथ-पैर पटकना, आदि कई मुद्रादोष का वर्णन है, जो रस-निष्पत्ति में अवरोधक है। कलाकार को प्रयत्नपूर्वक इन्हें टालना चाहिए।

सांगीतिक घटकों का परस्पर मेल होना आवश्यक है। यदि करुण रस-प्रधान शब्द है, अभिनय है, तो स्वर, राग, लय, ताल भी उसके अनुरूप होना सराहनीय है। घटकों का उचित मेल रस-निष्पत्ति को संपूर्णता प्रदान करता है।

कलाकार जो अनुभव करता है, उसी की अभिव्यक्ति करता है। अभिव्यक्ति का प्रयास यह होना चाहिए, कि कलाकार की अनुभूति रसिक की अनुभूति बने। हाँलाकि यह सदैव संपूर्ण सच नहीं है, संभव नहीं है; क्योंकि रसिक की अनुभूति उसकी निजी कल्पना, क्षमता एवं मानसिक तथा भावनागत स्थिति पर भी आधारित होती है। परंतु कलाकार एवं रसिक की अनुभूति बिलकुल विरोधाभासी हो, वह सफल रसाभिव्यक्ति नहीं मानी जाती। कलाकार जो अभिव्यक्त करे, उस भाव, रस के नज़दीकी अनुभव रसिक को हो, वह कोशिश होनी चाहिए।

सांगीतिक तालीम के दौरान शास्त्रीय पक्ष के ज्ञान के साथ उससे संलग्न रस और भाव परिप्रेक्ष्य पर भी ध्यान देना चाहिए। नर्तन विधा में यह प्रायः होता है,

परंतु उसकी अपेक्षा गायन-वादन में कभी-कभी इसे अनदेखा-सा किया जाता है। राग सीखाते समय उसके आरोह-अवरोह, पकड़, वादी-संवादी, वर्जित-विवादी, थाट, विकृत स्वर, गायन-वादन समय, बंदिशें, सरगम इत्यादि पहलुओं के साथ उससे संलग्न रस, भाव तत्त्व पर भी चर्चा की जाए, या उस पर लक्ष्य दिया जाए, वह अत्याधिक आवश्यक है। उससे विद्यार्थी में शुरुआत से ही रस के प्रति जागरूकता आती है। प्रस्तुति के दौरान उस पर ध्यान रहता है।

वर्तमान समय में सब कुछ अत्याधिक तेज गति से होने लगा है। किसी के पास शांति नहीं है, समय नहीं है। सीखने वाला और सीखाने वाला दोनों वक्त की कमी में है। यह कला की तालिम के लिए, विशेषतः भाव, रस पक्ष की विस्तृत शिक्षा के लिए स्वीकार्य नहीं है। कला की तालीम सिर्फ कला को ध्यान में रखते हुए, अन्य किसी अवरोध के बिना हो पाए, तभी भाव और रस उभर के आते हैं। ऐसी तालीम पाने के पश्चात कलाकार रस-सभर प्रस्तुति देने के लिए सक्षम है।

प्रस्तुति के दौरान भी समय की कठोर पाबंदी इच्छनीय नहीं है। पहले के समय में मेहफ़िलों की समयावधि अत्याधिक हुआ करती थी। एक समय में कलाकार एक राग को संपूर्ण न्याय देकर डेढ़-दो घंटे तक उसका चैन से विस्तार करते थे, जो साहजिक रूप से रस-निष्पत्ति करता था। वर्तमान समय में न आयोजक के पास अधिक समय है, न रसिक के पास, न कलाकार के पास। एक मेहफ़िल में दो-तीन कलाकार होते हैं। एक घंटे में भी दो राग प्रस्तुत करते हैं। इसके लिए जल्दबाज़ी होती है, जिसमें वे रसिक को चमत्कृति का अनुभव तो करवा देते हैं, पर चैनपूर्वक, राग को क्रमशः खोलते हुए उसके रस में तरबतर करने वाली बात कभी-कभी नहीं बन पाती। वर्तमान समय की वास्तविकता को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। १-२ पीढ़ी के पूर्व सब जितना आराम से, चैन से जीते थे, उतना समय आज किसी के पास नहीं है। परंतु आयोजक और कलाकार का लक्ष्य होना चाहिए, कि प्रस्तुति को आवश्यक समयावधि मिल पाए।

भारतीय शास्त्रीय संगीत की विशिष्टता उसका उपज अंग है। कलाकार जब मंच पर उपस्थित होता है, तब उसे स्वयं ज्ञात नहीं होता, कि प्रस्तुति में क्या-क्या, किस प्रकार समाविष्ट होगा। वह तत्कालीन मनोभाव के अनुसार उन्हें अभिव्यक्त करते हुए प्रस्तुति देता है। यदि सब कुछ पूर्व निर्धारित हो, निश्चित - fixed - हो, तो उसमें ताज़गी - freshness - नहीं रहती। यांत्रिक हो जाता है। कुछ नवीन अंतःप्रेरणा हो जाए और उसका तत्क्षण आनंद कलाकार को स्वयं भी मिले, ऐसा तभी संभव होता है, जब प्रस्तुति पूर्व निर्धारित न हो। वर्तमान संगीत में काफी कुछ पूर्व निर्धारित होने लगा है, परंतु उसकी अपेक्षा उपज अंग से बढ़त करके तत्कालीन मनोभावों से कला प्रस्तुत करना अधिक भावपूर्ण, रसमय होता है।

स्वतंत्र गायन-वादन या नर्तन-ताल वादन की संगत में भी, समय के अनुसार राग का चयन किया जाए, तो प्रस्तुति अधिक प्रभावपूर्ण होती है। क्योंकि उत्तर हिन्दुस्तानी राग संगीत प्रहर एवं ऋतुओं के मुताबिक विभाजित है, उसके मुताबिक उसका प्रभाव है; उस निर्धारित समय पर उसका प्रयोग मानव-मन की तत्कालीन भावना अनुभूति से संलग्न होता है। परिणाम स्वरूप अधिक प्रभावपूर्ण, आकर्षक लगता है।

उत्कृष्ट रस-निष्पत्ति के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है उत्तम साथ-संगत। गुणी कलाकार मानते हैं, कि संगत करना स्वतंत्र प्रस्तुति से भी कठिन है। यदि संगतकार अच्छा हो, तो प्रस्तुति अवश्य सफल होती है। वाकई में यह सच है। मुख्य कलाकार और संगतकार का सायुज्य होना बहुत ज़रूरी है। संगत और संगतकार के संदर्भ में इन सिद्धहस्त कलाकारों के विचार जानने योग्य हैं : “संगत में सवाल-जवाब में musicality होनी चाहिए, दिखावा नहीं।” - पंडित सुरेश तलवलकर जी। “संगत में संवाद होना चाहिए। दोनों को समझना चाहिए, कि दूसरा क्या कहना चाहता है।” - पंडित नित्यानंद हल्दीपूर।[१५]

कार्यक्रम के आयोजक तथा कलाकार के बीच तनावमुक्त संबंध होना रसप्रद प्रस्तुति के लिए सराहनीय है। कार्यक्रम का व्यवस्थापन अनुकूल होना चाहिए। कलाकार की मनःस्थिति विक्षिप्त न हो, ऐसे हर संभव प्रयास होने चाहिए, क्योंकि प्रस्तुति के समय कलाकार का शांत, प्रसन्न, संतुष्ट होना उसे कला के प्रति समर्पित कर सकता है। ऐसी चित्तावस्था में प्रस्तुति उत्कृष्ट भावों की अभिव्यक्ति बनी रहती है।

कलाकार की शारीरिक, मानसिक एवं भावनागत संपूर्ण स्वस्थता भी अत्यंत आवश्यक है।

मेहफ़िल की सफलता की अति महत्त्वपूर्ण चाबी है रसिक की अपेक्षा का ज्ञान। रसिक को क्या पसंद है, कैसा पसंद है, किस तरह से पसंद है, उसकी जानकारी कलाकार को हो, तभी प्रस्तुति से उसे आनंद प्राप्त हो सकता है। रसिक के सामाजिक, मानसिक, भावनागत परिप्रेक्ष्य के अनुरूप प्रस्तुति उसे रसानुभूति करवा सकती है।

रसानुभूति के लिए रसिक का स्वयं का भी कुछ योगदान है। संगीत जैसी चल कला के लिए ध्यान-केन्द्रित होना सबसे अधिक आवश्यक है। प्रस्तुति एवं कलाकार के प्रति पूर्वाग्रह-मुक्त होना, हकारात्मक अभिगम होना आवश्यक है। रसिक की शारीरिक, मानसिक, भावनागत स्वस्थता होना सराहनीय है। वह किसी भी प्रकार की आत्यंतिक स्तर की भावना से ग्रसित न हो, जिससे कलाकार की रसाभिव्यक्ति का प्रभाव उस पर हो सके, वह आवश्यक है।

ऐसे कई छोटे-छोटे पहलुओं का ध्यान रखने से समग्र प्रस्तुति की तथा परिणाम स्वरूप समग्र कार्यक्रम की आकर्षकता, लोकभोग्यता, लोकप्रियता बनी रहती है। विदीत होता है, कि नर्तन की अपेक्षा गायन-वादन में अत्याधिक प्रमाण में रस-तत्त्व को नज़र-अंदाज़ कर दिया जाता है। कई बार प्रस्तुति विद्वत्ता और क्षमता का प्रदर्शन बन जाती है। भाव एवं रस पक्ष पर ध्यान दिया जाए, तो ही शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता बनी रहना संभव है। कुछ लोगों के मन में शास्त्रीय संगीत के

प्रति नीरसता पाई जाती है, जिसे दूर करने का संभव प्रयास भारतीय शास्त्रीय संगीत, कलाकार तथा रसिकजन सब के लिए इच्छनीय है। भारतीय शास्त्रीय संगीत आध्यात्मिक दृष्टि से उत्कृष्ट है, आत्मा को सुकून, मन को शांति देता है। वर्तमान तनावयुक्त समय में उसका श्रवण, दर्शन अत्याधिक लाभप्रद हो सकता है। इसीलिए समाज में उसके प्रति रुचि बनाए रखना जन-हित में है। कलाकारों के लिए ये लाभदायी तो है ही, साथ में उन्हीं का दायित्त्व भी है, कि समाज में शास्त्रीय संगीत के प्रति लगाव एवं रुचि बना रहे।

भारतीय संगीत अपनी विशिष्टता के कारण पाश्चात्य राष्ट्रों में भी प्रिय होने लगा है। सौन्दर्यशास्त्र के अंतर्गत 'रस' तत्त्व की परिकल्पना भारतीय कला जगत की ही देन है। दोनों का संबंध समझ के, उसे कायम रखना अनिवार्य है।

स्वर योगिनी, विदुषी प्रभा अत्रे जी के संगीत के रसास्वादन संबंधी विचार काफी रसप्रद है। उनका कथन है, कि : "मेहफ़िल का हर श्रोता मेरे कलासृजन में सहभागी हो यह मेरी अपेक्षा होती है, वैसा मेरा प्रयास भी रहता है। कलाकार एवं श्रोता के बीच का संवाद यानि मेहफ़िल। इस संवाद को उच्चस्तरीय बनाने में दोनों पक्षों को प्रयत्नशील रहना चाहिए।

अज्ञान के कारण हम दुनिया की अनेक सुन्दर बातों से वंचित रह जाते हैं और हमें इसका एहसास भी नहीं होता। शास्त्रीय संगीत भी उनमें से एक है। यह भी सच है, कि शास्त्रीय संगीत के कलाकार कई बार स्वयं के दोषों का आरोप इस सुन्दर कला पर करते हैं और उसे असुन्दर बनाते हैं।

जिस माध्यम से कला हम तक पहुँचती है, यदि वह माध्यम ही दूषित हो तो कला भी दूषित हो जाती है, अतः किसी भी बात की अच्छाई-बुराई तय करने में जल्दबाज़ी न हो तो अच्छा होगा। इसलिए संगीत का समझपूर्वक सतत श्रवण, थोड़ी शिक्षा, थोड़ा चिंतन आवश्यक है।

संगीत की अपनी भाषा है, जो अन्य भाषाओं से एकदम भिन्न है। संगीत में की गई बात संगीत में ही प्रभावी होती है। इसका अर्थ भी संगीत में ही खोजना पड़ता है। संगीत की भाषा का अर्थ शब्दों में पकड़ने की कोशिश में वह अपने सूक्ष्म भाव खो बैठती है। यहाँ शब्द अधूरे से लगते हैं, क्योंकि संगीत के अर्थ को शब्दों में व्यक्त करते समय शब्दों के ही अर्थ उससे जुड़ जाते हैं। संगीत का अस्तित्त्व ही शब्दातीत है। संगीत की भाषा से अनभिज्ञ लोग किसी और माध्यम की सहायता से उसका अर्थ ढूंढते हैं। शब्दों का अपना अर्थ होता है, जो संगीत से जुड़ जाता है। इसमें पूर्व संस्कार, पूर्वानुभव इनका भी सहभाग होता है। इसीलिए संगीत का अर्थ व्यक्ति-व्यक्ति के अनुसार बदलता रहा है; सांगीतिक अर्थ अज्ञात ही रह जाता है।

अक्सर यह होता है, कि संगीत के आस्वाद या रसास्वादन की बात निकलती है, तो हम उसे केवल शास्त्रीय संगीत से ही जोड़कर देखते हैं। फिल्मी संगीत का आस्वाद कैसे लें, यह समस्या किसी के सामने नहीं होती। लोक संगीत में तो यह प्रश्न मन को छूता भी नहीं है। शास्त्रीय संगीत के संदर्भ में ही यह प्रश्न क्यों ? क्या फिल्म संगीत अथवा लोक संगीत का 'संगीत तत्त्व' हम वास्तव में समझ पाते हैं या वह परिचित है, अच्छा लगता है, इसलिए समझ आता है ऐसा लगता है ? कोई चीज़ सुपरिचित होने के कारण अच्छी लगना और समझ में आना तथा कोई बात समझ में आने के कारण अच्छी लगना ये दो अलग-अलग बातें हैं।

किसी भी संगीत की विषय-वस्तु स्वर और लय ही होती है। इन दोनों के विशिष्ट संयोग से आविष्कार से ही संगीत के आकृतिबंध तैयार होते रहते हैं। कुछ संगीत प्रकार हमें निकट के लगते हैं तो कुछ पराये लगते हैं। ऐसा क्यों लगता है, इसकी विवेचना का हम प्रयास करते ही नहीं।

सामान्य श्रोता से जानकार श्रोता तक रसास्वादन के भिन्न स्तर होना स्वाभाविक है। मराठी संत तुकाराम ने ज्ञानी और भक्तों के संदर्भ में कहा है : "भक्त

अटूट श्रद्धा से ईश्वरूप हो जाता है, तो ज्ञानी अपने अनुभवों को जाँचते, परखते आगे बढ़ता है।" संगीत में श्रोता का केवल ज्ञानी होना पर्याप्त नहीं है, वह रसिक, भाविक होना ज़रूरी है। 'ज्ञानी रसिक' ही संगीत का आदर्श श्रोता है। कलाकार की कला एवं श्रोता की रसिकता जब एक स्तर पर आ जाते हैं तो कला को पूर्णत्त्व प्राप्त होता है, मेहफ़िल सफल हो जाती है।

'संगीत' यानि 'सम+गीत'। 'सम' यानि उदात्त, पवित्र, उत्तम तथा 'गीत' यानि धुन, जिसका शब्दों के अलावा भी अस्तित्त्व है। संस्कृत ग्रंथों में दी गई संगीत की परिभाषा अलग ही है। गीत, वाद्य तथा नृत्य, तीनों मिलकर संगीत कहलाता है। इस परिभाषा से वैसे भी संगीत के स्वभाव का बोध करना कठिन है। सामान्य मनुष्य के दृष्टिकोण से विचार करने पर संगीत की परिभाषा अधिक सरल हो जाती है। आनंद तथा दुःख स्वररूप लेकर जब लय में प्रवेश करते हैं तो संगीत बन जाता है। अधिकतर लोगों का यही अनुभव होगा ऐसा मेरा अनुमान है। संगीत की उत्पत्ति किसी तीव्र भावना की अवस्था में होती है लेकिन उसके कला रूप में प्रकट होते समय जो अन्य संदर्भ होते हैं वे उसके स्वयं के होते हैं। बाह्य जगत से उनका कोई संबंध नहीं होता।

संगीत को मोटे तौर पर दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है - शास्त्रीय या राग संगीत तथा अन्य प्रकार का संगीत। सामान्यतः राग संगीत ऐसे जानकार श्रोताओं के लिए है जिन्होंने शस्त्रों का अध्ययन किया होता है तो अन्य प्रकार का संगीत सब के लिए होता है, ऐसी मान्यता है। इसका मुख्य कारण राग संगीत स्वरनिष्ठ है तो दूसरा शब्दनिष्ठ है।

शब्दनिष्ठ संगीत में शब्दाकृति एवं उनमें निहित भावनाओं का महत्त्व होता है। यहाँ संगीत शब्दों के पीछे आता है। वह शब्दों पर हावी नहीं होता। शब्दों के वज़न के अनुसार ही संगीत का उपयोग होने के कारण मूल शब्द अधिक प्रभावी हो जाते हैं। स्वरों में शब्दों के अर्थ घुलमिल जाने के कारण शब्दनिष्ठ संगीत सामान्य श्रोताओं तक

आसानी से पहुँच जाता है तथा यह संगीत शब्दों में विलीन होने के कारण संगीत का अलग सा अर्थ समझना आवश्यक नहीं होता। जानकार श्रोता शब्दनिष्ठ संगीत में भी संगीताकृति का रसास्वादन करता रहता है। ऐसा करना ही सांगीतिक अर्थ के निकट पहुँचना है। इसके लिए शास्त्र का गहन अध्ययन ज़रूरी नहीं है। अपनी संवेदनाओं को सतत जागृत रखना आवश्यक है। थोड़े प्रयासों से भी कई बातें हमारी समझ में आ सकती है। स्वर का ऊँचा-नीचा पन, वे कैसे स्पर्शित हो रहे हैं, कैसे छूट रहे हैं, एक दुसरे के साथ जोड़कर कैसे लगायें जा रहे हैं, उनकी चाल सीधी है या टेढ़ी-मेढ़ी है, स्वरों की लय तथा ताल के वज़न में क्या संबंध स्थापित हो रहा है, शब्दोच्चार का ढंग कैसा है, नाद वैचित्र्य तथा भाव सृजन में उनका कैसा उपयोग किया जा रहा है - ऐसी कई बातें सजगता से समझनी चाहिए। इसकी अनुभूति जितनी उत्कट होगी उतनी ही संगीत की समझ वृद्धिंगत होगी। केवल राग या ताल पहचान पाने से ही वह संगीत का ज्ञानी नहीं होता। उसी प्रकार राग का नाम न पहचान पाने से वह संगीत में अज्ञानी है, ऐसा नहीं होता। राग का नाम पहचानने से आत्मविश्वास बढ़ता है। कई लोग किसी परिचित गीत से राग को पहचानते हैं। राग ऐसे ही याद रखने पड़ते हैं लेकिन साथ ही राग एवं ताल की प्राथमिक शिक्षा ग्रहण करने से इस यात्रा की गति बढ़ जाती है। संगीत का विचारपूर्वक सतत श्रवण ही संगीत की शिक्षा का प्रथम पाठ है। इसके बाद आगे का कदम सूक्ष्मता की ओर बढ़ता है। संगीत की गहराई में श्रोता को कितना उतरना है, यह स्वयं उसे ही तय करना है।

हर कोई कलाकार नहीं बनना चाहता, परंतु मैं 'रसिक' बनना नहीं चाहता, ऐसा कहने वाला श्रोता शायद ही हो। एक सीमा तक रसिकता अर्जित करना हर किसी के लिए संभव है, परंतु रसिकता यह सुप्त भाव जीवित रखने का प्रयास होना चाहिए। शिक्षा, अध्ययन, चिंतन, सहवास, आदि माध्यमों से रसिकता को धार चढ़ानी चाहिए। ऐसा करने से विश्व की सुन्दर चीज़ें हमारे मन को सतत छूती रहेंगी और जीवन की बिगड़ी मेहफ़िल में भी रंग भरती रहेंगी।"[१६]

संगीत साधना, आनंद और आध्यात्मिक परिष्कृति के संदर्भ में भी उनके विचार सराहनीय हैं। "संगीत के माध्यम को अपनाने वाले कुछ ही ऐसे भाग्यवान होते हैं जो यह समझ पाते हैं कि स्वर और लय केवल साधन ही नहीं साध्य भी हैं।

इस अवस्था में पहुँचने के बाद प्राप्त करने जैसा कुछ शेष नहीं रहता। आनंद को बाँटना होता है और इससे आनंद की वृद्धि होती है, परंतु वे लोग जो यह समझ नहीं पाते, वे स्वर और लय के विविध आविष्कारों में, साधना का मूल उद्देश्य भूल जाते हैं। ऐसे लोग के लिए फिर संगीत मनोरंजन, दिल बहलाने का अथवा मन को उत्तेजित करने का साधन हो जाता है। ग़लतफ़हमी के इस आवरण में महान, सच्चे साधक भी संभ्रमित हो जाते हों तो आश्चर्य नहीं।

प्राचीन समय से ही भरत में 'नाद' के अनन्य साधारण महत्त्व को स्वीकारा गया है। आध्यात्म शास्त्र के अनुसार हृदय तक पहुँचने वाली प्रेरणा का संचार नाद के माध्यम से होता है। इस धारणा के कारण ही सर्व प्राणियों की कृति, प्रवृत्ति पर नियंत्रण बनाये रखने की क्षमता नाद में हैं, ऐसा माना जाता है। इस नाद शक्ति के उपासक, स्वर अथवा ध्वनि को दैवी संपदा मानते हुए अपनी समूची शक्ति केन्द्रित कर अपनी इच्छा प्रवृत्ति पर विजय पाते थें। नाद अथवा स्वर के तादात्म्य भाव के कारण ऐसे योगी ऐहिक मोह से अलिप्त रह पाते थें। केवल स्वयं की आत्मा की खोज इतना ही उनका लक्ष्य नहीं था; उस सर्वात्मक नादब्रह्म के साथ तन्मयता पाने का उनका प्रयास था। व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्त्व ही नहीं है, वह समष्टि का ही एक रूप है, इस श्रद्धा से उपासना होती थी। 'स्व' और प्रकृति के बीच सभी कृत्रिम भेदभावों को मिटाकर चित्तशक्ति और विश्वशक्ति में एकरूपता साधना, यही इन तपस्वी नादयोगियों की किमया थी। नादब्रह्म की साधना के कारण उनमें ऐसा मधुर भक्ति-भाव जागृत हुआ कि उनको हर बात में उस प्रेमपूर्ण भाव की अनुभूति होने लगी। उस अनुभूति के कारण उन्हें विश्वास हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए वैश्विक प्रेरणा से तदाकार होना संभव है। इसके लिए शास्त्रीय मीमांसा अथवा अन्य किसी बात की

आवश्यकता नहीं है। शांति और आनंद के माध्यम से इस तद्रूपता को अधिक आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार नाद की उपासना से चैतन्य का केवल जतन होता है अथवा दिशा प्राप्त होती है ऐसा नहीं है, तो इस योग के कारण आत्मिक उन्नति भी होती है। एक श्रेष्ठतम मानसिक शक्ति का लाभ होता है और परमात्मा से युति के कारण परमानंद की प्राप्ति होती है। स्वर साधना से अंतिम आनंद और उसके द्वारा फिर नये स्वराविष्कार, ऐसी यह अखंड संतोष यात्रा है। कला के रूप में संगीत जितना बंदिस्त है उतना ही मुक्त भी है।

कला के हथकंडे साध्य करना आसान है, परंतु इनके बल पर कला से भी पार पहुँचने का सामर्थ्य कलाकार में निर्मित होना यह कला साधन का महत्त्वपूर्ण सोपान है। इसका विस्मरण होना संगीत साधना की रह में रुकावट है। अधिकतर, साधक इन हथकंडों की बारीकियों में ही उलझता है और मानकर चलता है, कि उसका लक्ष्य पूर्ण हो गया है। वास्तव में देखा जाये तो संगीत में विविध परंपराएँ हैं, वे उच्च श्रेणी के आनंद तक पहुँचने के मार्ग हैं। उनकी सहायता से साधक को संगीत कला के नए क्षितिज उपलब्ध होने चाहिये। उसमें विकल्प की स्थिति आना यह दोष कला का अथवा परंपरा का नहीं है।

आज जो महत्त्वपूर्ण प्रतीत हो रहा है, वह विशुद्ध अज्ञान था, ऐसा बाद में समझ में आता है। केवल अज्ञान के कारण ही किसी क्षण पूर्णतः प्राप्त कर लेने का भ्रम होता है। संगीत कलाकार भी इसमें अपवाद नहीं है। कई बार ऐसा भी होता है, कि साधक को किसी विशिष्ट कला प्रकार में नावीन्य का अनुभव होता है, वह उसे निर्माण करता है, वह उसे अच्छा लगने लगता है और वह उस कला के प्रति समर्पित हो जाता है। आगे चलकर उसे उसके अधूरेपन का अनुभव होने लगता है परंतु संगीत की अथाह और कभी न मिटने वाली मिठास तो अमर ही रहती है, उस पर ऐसे बदलावों का बिलकुल भी परिणाम नहीं होता। समयानुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण कर परंपरा निरंतर बहती रहती है। उसमें कुछ आकार पुराने हो जाते हैं, समय

के साथ चलने की उनमें ताकत नहीं होती है। सच्चे कलाकार को इस कमी का एहसास हो ही जाता है इसीलिए वह सतत प्रगति तथा नवीनता हेतु प्रयासरत रहता है। अंतिम सत्य को पाने तक उसका यह प्रयास अविरत चलता रहता है। वास्तव को सत्य के निकट ले जाने का यही एकमात्र सही रास्ता होता है। साधक की दृष्टि में 'साधना' सत्य की खोज का मार्ग है। सामान्य लोगों के लिए वह एक नवनिर्मित हो जाती है।

प्रत्येक नई पीढ़ी में स्वरों की पुनः रचना, पुनः योजना ही होती रहती है। नई चौखट में नई रचना प्रस्तुति आ जाती है, बस इतना ही। सच्चा कलाकार इस बात से अनभिज्ञ नहीं होता है। वह जानता है, कि उसके द्वारा कोई मौलिक निर्मिति नहीं हो रही है केवल संदर्भ बदल रहे हैं। ऐसे साधक को सर्वस्पर्शी, महान विश्व संगीत का साक्षात्कार होता है और इसके प्रति उसके मन में आदर और बढ़ जाता है। निर्मिति का क्षुद्र अहंकार गल जाता है। निर्मिति, सुधार, आदि प्रयासों की व्यर्थता उसकी समझ में आती है। ऐसे क्षण में सभी विकल्प गायब हो जाते हैं। जीवन के सच्चे अर्थ का उसको साक्षात्कार होता है और जिस समय कलाकार इस समाधि की अवस्था में पहुँच जाता है, उस समय अन्य लोगों को उसमें नई निर्मिति का एहसास होने लगता है।[१७]

प्रभा जी का मंतव्य है, कि स्त्री प्राकृतिक विशेषताओं के कारण स्त्री कलाकार की कलात्मक अनुभूति अधिक तीव्र होती है। कारण बताते हैं, कि कला का संबंध बुद्धि की अपेक्षा भावना से अधिक निकट का होता है। स्त्री की भावात्मक गढ़न पहले होती है और वैचारिक गढ़न उसके पश्चात। उनका कहना है, कि भारतीय संगीत का उद्गम प्रार्थना से हुआ है और 'समर्पण' स्त्री-स्वभाव की विशिष्ट लक्षणिकता होने के कारण प्रार्थना की भावना उसकी रग-रग में बसी है। परिणाम स्वरूप स्त्री इसी प्रार्थना से सृजित, उद्भवित संगीत के अधिक निकट होती है।

पंडित भीमसेन जोशी का मंतव्य है, कि अच्छा कलाकार वह है, जो अच्छा इंसान हो, चाहे स्त्री हो या पुरुष। उसे जीवन की कोमल भावनाओं से अवगत होना चाहिए। पुरुष कलाकार भी अपने सर्वस्व को भूलाकर कला साधना में लीन होता है। उसकी अनुभूति स्त्री की अपेक्षा भिन्न हो सकती है, परंतु प्रार्थना के माध्यम से संगीत सृजन का सामर्थ्य सच्चे पुरुष कलाकार में भी होता है।[१८]

तार्किक दृष्टि से प्रभा जी का विचार, मंतव्य अनुचित नहीं है, परंतु वास्तविकता यह ही है, कि संगीत जगत में उत्तम पुरुष कलाकार हैं ही। यह अवश्य है, कि कलाकार में नज़ाकत, भावनाशीलता, समर्पण, इत्यादि गुणों का होना कला की रस-पूर्णता के लिए अनिवार्य है। शास्त्रों में भी इसका समर्थन प्राप्य है।

पंडित जगदीश नारायण पाठक का कथन है, कि "इस संसार में समस्त चेतन प्राणी विषयों के आनंद के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। विषयों की उपलब्धि न होने से एक दूसरे में संघर्ष होता है। लोग विषयों के पीछे इतने पड़ जाते हैं कि उन्हें नैतिक या अनैतिक किसी भी ढंग से प्राप्त करना चाहते हैं इस दशा में अनैतिकता और अधर्म बढ़ जाता है जिससे समाज और देश का ह्रास हो जाता है। अतः सांसारिक विषय क्रांति और संघर्ष का केन्द्र है। संघर्ष दूर करने के लिए विषयों से अलग होना आवश्यक होता है। संगीत ही एक ऐसी कला है जो मानव को इन सांसारिक विषयों से अलग कर देता है। संगीतज्ञ निरंतर संगीत की धुन में मस्त रहता है। उसे विषयों की चिंता नहीं रह जाती। अतः यह मानना पड़ेगा कि संगीत का स्थान ललित कलाओं में श्रेष्ठतम है।"[१९]

प्रस्तुति के लिए राग का चयन करते समय वाद्य की प्रकृति, क्षमता, सीमा पर भी ध्यान देना चाहिए। अति गंभीर प्रकृति के राग संतूर जैसे वाद्य पर निभाना मुश्किल है। सरोद या वीणा जैसे वाद्य पर आसानी से उनकी रसाभिव्यक्ति हो सकती है। सप्तक का उचित प्रयोग भी रसाभिव्यक्ति में महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। अति गंभीर

राग सितार जैसे वाद्य पर प्रस्तुत करते समय मंद्र, अति मंद्र सप्तक का प्रयोग नादात्मक गांभीर्य में अभिवृद्धि करके रसाभिव्यक्ति को प्रभावपूर्ण बनाता है। इस दृष्टि से सितार जैसे वाद्य में लरज-खरज का प्रयोग सराहनीय है।

संगीत रत्नाकर में गायक के पाँच (५) भेद बताये गए हैं :

"शिक्षाकारोऽनुकारश्च रसिको रञ्जकस्तथा।
भावकश्चेति गीतज्ञाः पञ्चधा गायनं जगुः।।"

अर्थात्, शिक्षाकार, अनुकार, रसिक, रंजक और भावक - ये संगीत के ज्ञाता, पाँच प्रकार के गायक है।

अर्थ यह है, कि अन्यून, अर्थात् संपूर्ण शिक्षण देने में दक्ष गायक को 'शिक्षाकार' कहा गया है। अन्य गायक का कुशलतापूर्वक अनुकरण करनेवाले गायक को 'अनुकार' कहा गया है। जो रस मगन हो, उसे 'रसिक' कहा गया है। जो श्रोताओं का रंजन करने वाला हो, उसे 'रंजक' कहा गया है। जो गीत में भाव उत्पन्न करने वाली क्रियाएँ करता है, उसे 'भावक' कहा गया है। संगीत रत्नाकर के अनुसार, 'रसिक' को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है, क्योंकि वह गाते समय रस में पूर्णतया लीन हो जाता है, उसे अन्य परिस्थितिओं का ज्ञान नहीं होता। इसमें उसे स्वयं उस आनंद की प्राप्ति होती है जिसे ब्रह्मानंद कहा जाता है। परिणाम स्वरूप श्रोताओं को भी आनंद की अनुभूति स्वतः ही हो जाती है, यद्यपि श्रोताओं को रस की अनुभूति कराने के लिए 'रसिक' गायक को प्रयास नहीं करना पड़ता। 'रंजक' गायक का उद्देश्य श्रोताओं के हृदय का रंजन करना होता है। अतः 'रंजक' गायक की स्थिति रस में रस एकाकार होने की नहीं अपितु श्रोताओं के चित्त के रंजन में उसका प्रयास केन्द्रित रहता है। 'भावक' गायक की स्थिति 'रसिक' तथा 'रंजक' के मध्य की होती है। 'भावक' न तो रसिक के समान रस में लीन रहता है और न ही 'रंजक' के समान श्रोताओं के लिए रंजन हेतु आकर्षक

वातावरण बनाना उसका उद्देश्य है, उसका उद्देश्य भाव भरना होता है, जैसा कि 'भावक' शब्द से ही स्पष्ट हो जाता है।[२०]

रसिक, भावक और रंजक के विषय में 'संगीतसमयसार' में लिखा है, कि

"सुश्रवं गीतमाकर्ण्य भवेद् यः पुलकान्वितः।
आनन्दाश्रुकणाकीर्णः सोऽयं रसिकगायकः।।
नीरसं सरसं कुर्वन्निर्भावं भावसंयुतम्।
श्रोतुश्चित्तं परिज्ञाय यो गायेत् स तु भावुकः।।
चेतोहरेण गीतेन विदित्वा श्रोतुराशयम्।
रङ्ग गीते विधत्ते यो रञ्जकः सोऽभिधीयते।।"

- 'संगीतसमयसार'।

अर्थात्, 'रसिक' सर्वश्रेष्ठ कक्ष का संगीतज्ञ है, जो अश्रु, पुलक, इत्यादि सात्त्विक भाव के साथ रस उजागर करता है। 'भावक' मध्यम कक्षा का संगीतज्ञ है, जो श्रोता-दर्शक के चित्त - मन - का ज्ञान रखकर भावपूर्ण प्रस्तुति देता है। 'रंजक' तीनों में निम्न कक्षा का संगीतज्ञ है, जो श्रोता-दर्शक का रंजन करने वाले (भावनात्मक) रंग से सभर प्रस्तुति देता है।

प्रो. प्रेमलता शर्मा ने उपरोक्त विवरण के आधार पर सौन्दर्यानुभूति के तीन स्तर रंजन, भावानुभूति और रसानुभूति बताए हैं।[२१]

विदीत होता है, कि कलाकार का रस-भाव और रंजकता से क्या संबंध है, हो सकता है, इस विषय पर 'संगीत रत्नाकर', 'संगीतसमयसार', जैसे ग्रंथों में विस्तृत चर्चा हुई है। 'संगीत रत्नाकर' में वर्णित गायक-वादक गुण-दोष में भी प्रस्तुति की भाव-रसमयता को लक्ष्य में रखा गया है, जो सर्व-विदीत है।

यह सत्य है, कि मानव-संस्कृति के सभी आयाम समय के साथ परिवर्तनशील रहे हैं, जिसमें संगीत भी समाविष्ट है। परंतु यह भी हकीकत है, कि जो पारंपारिक संगीत है, वह परिवर्तन से बहुत ज्यादा प्रभावित नहीं हुआ है। काफी हद तक मुक्त रह पाया है, जो एक बहुत बड़ी घटना है। कुछ खास, विशिष्ट बात है भारतीय शास्त्रीय संगीत में, कि वह जल्दी समय के प्रभाव में नहीं आता। उसका अपना स्वत्त्व शतकों से बरकरार रहा है, जो उसकी गहनता का प्रमाण है।[२२]

शास्त्रीय संगीत को कुछ समय जहाँ केवल मनोरंजन व भौतिक भोग-विलास का उपचरण माना जय करता था, वहाँ आज कुछ विचार-परिवर्तन हुआ है। भारतीय शास्त्रीय संगीत को अभी समाज में एक विशेष आदरणीय , गरिमामय स्थान प्राप्य है। उसे 'संस्कारी' कला माना जाता है। सांस्कृतिक संगठितता, परंपरा बनाए रखने के लिए उसे महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाला माना जाता है।

परंतु यह भी सत्य है, कि निजी स्वरूप - स्वत्त्व - तथा समाज में आदर प्राप्य होने के बावजूद भी शास्त्रीय संगीत को पसंद करने वाले लोग काफी कम हैं। संभवतः इसका कारण यह है, कि इसके तन्मय कर देने वाले सौन्दर्यबोध पर बहुत कम लोगों (कलाकारों) ने विचार किया है, इसीलिए आम जनता को प्रभावित करने में, आकर्षित करने में शास्त्रीय संगीत पूर्णतः समर्थ नहीं हो पाया। यह कलाकारों का कर्तव्य है, कि शास्त्रीय संगीत की स्वाभाविक विशेषता का लाभ लेते हुए ऐसा सृजन करें, जो मनुष्य की पाश्विक वृत्तियों का संहार करके उन्हें सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की ओर ले जाए।[२३]

रस कला का वह तत्त्व है, जो मनुष्य जीवन के अनुभवों का निरूपण होने के बावजूद भी वास्तविकता से अधिक मानव-नियंत्रित है, ऐच्छिक है। वर्तमान समय में जिस प्रकार समाज में बिखराव, टूटन, उद्वेग, आलोड़न मनुष्य को बैचेन किये हुए हैं, इसमें इस बैचेनी को दूर कर सके, ऐसे तत्त्व की आवश्यकता अनिवार्यतः है।

इसीलिए, जिसे लोक-संबंधी तथा लोकोत्तर, जाग्रत तथा स्वप्न, सुषुप्ति तथा समाधि, सत्य तथा मिथ्या, सदृश्य तथा अदृश्य माना गया है, ऐसे रस-तत्त्व की उपस्थिति वर्तमान समय की कला के लिए अत्याधिक आवश्यक पाई जाती है। नकारात्मकता के दौर में रसाभिव्यक्ति और रसानुभूति एक बड़ा और असरकारक हकरात्मक कदम सिद्ध हो सकता है।[२४]

५.२ : सौन्दर्य एवं रसमयता के परिप्रेक्ष्य में संगीत की परिष्कृति के संभवित सुझाव

सांगीतिक विधाओं के परिप्रेक्ष्य में रस तत्त्व के सैद्धांतिक आलेखन, अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के विश्लेषणात्मक अध्ययन के अंतर्गत कला, कला के प्रकार, ललित कला के प्रकार; ललित कलाओं में अनिवार्य तत्त्व रस; रस का ऐतिहासिक विवेचन; रस का अपने अंगों के साथ विस्तृत वर्णन; एक ललित कला के रूप में संगीत तथा उसमें रस निष्पत्ति; संगीत की विधाओं के मूलभूत घटक एवं उनका रस से संबंध; संगीत में रसानुभूति और रसाभिव्यक्ति; संगीत के दौरान रस-हानि और उसके कारण; जैसे पहलुओं पर गहन अभ्यास तथा सौन्दर्य एवं रसमयता संबंधी रचनात्मक विचार-विमर्श किया गया। उसीके आधार पर, इस चवर्णा की फल-श्रुति स्वरूप, सौन्दर्य एवं रसमयता के परिप्रेक्ष्य में संगीत की परिष्कृति के संदर्भ में (वर्तमान परिप्रेक्ष्य के लिए) संभवित सुझाव प्रस्तुत हैं।

- भरतमुनि तथा समकालीन अन्य विद्वानों द्वारा विभिन्न सांगीतिक घटकों का रस से जो संबंध दर्शाया गया है, वह प्राचीन परिप्रेक्ष्य में है। वर्तमान समय में इन घटकों में काफी परिवर्तन हो गया है। स्वर-स्थान बदले हैं, ताल बदले हैं, वाद्य बदले हैं, इत्यादि। इस परिस्थिति में प्राचीन शास्त्र का अक्षरसः अनुकरण करके उसके अधार पर रस-निष्पत्ति संभव नहीं है। कला के लिए, विशेष रूप से कला के विद्यार्थी के लिए रस-शास्त्र के सिद्धांतों का विशेष महत्त्व है। यदि प्राचीन स्वर, राग, ताल, वाद्य, इत्यादि की तुलना वर्तमान संगीत से करके, उसके आधार पर परिवर्तन को समझते हुए प्राचीन एवं वर्तमान पद्धति के घटकों का परस्पर संबंध स्पष्ट-रूप से समझा जाए तथा उसके मुताबिक वर्तमान घटकों का रस-तत्त्व से संबंध नए परिप्रेक्ष्य में प्रस्थापित करने का प्रयास किया जाए, तो निश्चित रूप से लाभदायी हो सकता है। अवश्य यह

अनुसंधान काफी कठिन है, उसमें न केवल सांगीतिक घटक, बल्कि परिस्थितियाँ भी समाविष्ट हैं, परंतु रस-शास्त्र के विद्वान संगीतज्ञों द्वारा परस्पर चर्चा-विचारणा करके यह प्रयोग किया जाए और सफलता प्राप्त हो, तो अत्यंत सराहनीय होगा। इस अनुसंधान से वर्तमान सांगीतिक घटकों का विभिन्न रस से क्या संबंध है, वह स्पष्ट एवं आधारभूत स्वरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। जो निश्चितरूप से अगली पीढ़ीओं के लिए मार्गदर्शक होगा।[२५]

- भारतीय संगीत के इतिहास में एक मत ऐसा है, कि अति प्राचीन काल से ही 'मार्गी' एवं 'देशी' दो प्रकार अस्तित्त्व में हैं, जिन्हें वर्तमान समय में अनुक्रम से 'शास्त्रीय संगीत' एवं 'लोक संगीत' कहा गया है। दूसरा मत ऐसा है, कि लोक संगीत से ही कालक्रम से एक नई शाखा विकसित हुई, जो शास्त्रीय संगीत है। जो भी हो, वर्तमान वास्तविकता यह है, कि भारतीय संगीत में शास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत और लोक संगीत - ऐसी मुख्य तीन शाखाएँ प्रवर्तमान हैं। तीनों का स्वरूप, विशेषता, लाक्षणिकता परस्पर काफी अलग है, उसमें संदेह नहीं। एक हद से अधिक इनकी तुलना भी संभव नहीं है, वह भी निश्चित है। परंतु, वर्तमान भारतीय संगीत की वास्तविकता यह है, कि लोक संगीत तथा सुगम संगीत की अपेक्षा शास्त्रीय संगीत में जनरुचि का प्रमाण कम है। नर्तन से भी अधिक, गायन एवं वादन में रसिक को रसहानि मेहसूस होती है। ऐसे में, लोक संगीत तथा सुगम संगीत के कुछ विशिष्ट तत्त्व, जो उन्हें लोकप्रिय तथा लोकभोग्य बनाते हैं, उन पर थोड़ा सा ध्यान यदि शास्त्रीय कलाकार दें और उन्हें अपनी शास्त्रीय कला में, उसके दायरे में रहते हुए ही स्थान / महत्त्व देने का प्रयास करें, तो रस-निष्पत्ति में कुछ सहायरूप हो सकता है। इन तत्त्वों में सहजता, सरलता, स्वाभाविक माधुर्य, भावपूर्णता, रसमयता, निश्छलता, आडंबर विहीनता, प्रयास रहित प्रस्तुति, तन्मयता, साहित्य पक्ष की व्यापकता, सर्व-सुलभता, सर्व-रंजनकारिता, इत्यादि मान सकते हैं। सशक्त

भाव-पक्ष के कारण भाव संप्रेषण की प्रक्रिया लोक संगीत एवं सुगम संगीत में अत्यंत सहज है, जो उसके आकर्षक होने का मुख्य कारण है। कलागुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लोक संगीत के भाव-पक्ष से प्रभावित होकर शास्त्रीय संगीत के धरातल पर नवीन संगीत पद्धति रवीन्द्र संगीत का निर्माण किया, जो अपने भाव-प्रधान स्वरूप के लिए ही प्रसिद्ध हुई। इसी तरह का प्रयास वर्तमान शास्त्रीय संगीत में किया जा सकता है। कबीर, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, इत्यादि संत कवि-कवियत्रीओं के गीत, जिन पर लोक शैली की स्पष्ट छाप विद्यमान है, उन्हें भी शास्त्रीय गायन एवं नर्तन में स्थान दिया जा सकता है। उनके सरल, भक्ति परक भावों को शास्त्रीय राग-ताल-अभिनय का सौन्दर्य प्राप्त होने पर रचना अत्याधिक खिल सकती है।[२६]

- सांगीतिक घटकों के परस्पर उचित मेल से रचना की रसमयता में अभिवृद्धि होती है, संपूर्णता का अनुभव होता है, उसकी चर्चा आगे हुई। किसी भी गेय पद को राग के स्वरों में संबंध करने से पहले उस गेय पद के भाव या रस पर विचार करना सराहनीय है। जिस राग से जो रस उत्पन्न होता है, उस रस को उत्पन्न करने वाले गेय पद का प्रयोग उस राग में हो, तो राग-रस अधिक खील उठता है, रंजक लगता है। श्रुति-प्रयोग, स्वर, राग, ताल, पद, वाद्य-गुण तथा अभिनय - इन सभी घटकों का सुमेल हो, ऐसा ध्यान में रखकर कृति की रचना करने का प्रयास किया जा सकता है। ऐसी कृतिओं का प्रचलित होना वर्तमान तथा भावि शास्त्रीय संगीत की रसमयता के परिप्रेक्ष्य से इच्छनीय है। उदाहरण स्वरूप, करुण रस प्रधान पद को तोड़ी या पीलु जैसे राग में, विलंबित या मध्य लय की ताल में निबद्ध करना; शिव का अभिनय हो, तो संगत में वीणा जैसा गंभीर वाद्य प्रयुक्त करना, इत्यादि। वर्तमान बुद्धिजीवी, विचारशील पीढ़ी को इस तरह का समग्रतायुक्त प्रयास अधिक प्रभावित कर सके, ऐसी संभावना है।

- गायन या नर्तन की जो बंदिशों में साहित्य - पद - समाविष्ट हो, उन में एक विशेष आयाम अर्थ का सम्मिलित होता है। पद का विशेष अभ्यास करके, उसके खास भावप्रद शब्दों को अलग छाँनना चाहिए। उसमें नाम, विशेषण, इत्यादि मुख्य हैं। इन पर ध्यान केन्द्रित करके बंदिश की बढ़त की जाए, इन शब्दों को वैविध्यसभर बेहलाव से पेश किया जाए, तो उन पर रसिक का विशेष ध्यान पहुँचता है। परिणाम स्वरूप बंदिश का जो केन्द्ररूप, मर्मरूप भाव है, वह उसे तादृश्य होगा। वह highlight होगा। उदाहरण स्वरूप, यदि बंदिश प्रस्तुत हो रही है, "एरी आली पिया बिन" - तो उसमें बोल आलाप या बोल बनाव करना है, तो स्वाभाविक रूप से 'पिया बिन' शब्दों पर हो, तो समग्र बंदिश का - विरहोत्कंठिता नायिका का भाव उभर कर तादृश्य होगा। इसके स्थान पर 'एरी आली' को बार-बार गाया जाए, तो उससे अधिक अर्थ-भाव बोध नहीं हो सकता। बंदिश की पंक्ति है, "जूठी नित बातें करत" - कन्हैया के प्रति शिकायत है। अब इसमें 'नित', 'बातें' या 'करत' शब्दों पर बोल बनाव या बोल आलाप करने की अपेक्षा 'जूठी' या 'जूठी बातें' पर उसका प्रयोग किया जाए, तो बंदिश की भावाभिव्यक्ति स्पष्ट हो जाएगी। "अलबेला साजन आयो री" में यदि 'अलबेला' शब्द को वैविध्यपूर्ण तरीके से बार-बार गया जाए, तो 'साजन' 'अलबेला' है, 'अलबेला' 'साजन' के लक्षण में विशेषता दिखानेवाला विशेषण है, ऐसा स्वतःसिद्ध हो जाएगा। बंदिश में, पंक्ति में मुख्य, केन्द्रस्थित शब्द और सहायक शब्दों का तफ़ावत ध्यान में लेकर बढ़त के दौरान उन्हें प्राधान्य दिया जाए, तो अर्थ-भाव अभिव्यक्ति उत्कृष्ट हो सकती है।

- रसमय संगीत की प्रस्तुति के लिए रस-सिद्धांत का अभ्यास लाभदायी सिद्ध हो सकता है। विदुषी किशोरी आमोणकर जी का इस संबंध में मंतव्य है, कि "संगीत को भावमय बनाने के लिए नवरस का अध्ययन आवश्यक है। मेरा अष्ट

भावों में पूर्ण विश्वास है और सफल गायक को इनको समझना आवश्यक है और इनके लिए नवरस का अध्ययन बहुत आवश्यक है। संगीत में जो सिद्धांत भाव तत्त्वों पर आधारित होंगें वे ग़लत नहीं हो सकते। वे सब प्राकृतिक हैं। यह सोचनीय स्थिति है, कि रस-सिद्धांत का आधुनिक संगीत मे समुचित अध्ययन नहीं हुआ है, सब रसों की अवतारणा एक ही तरीके से होती है। श्रृंगार, करुण और शांत रस की अभिव्यक्ति में भी वही तान, खटके, मुरकी, गमक का प्रयोग होता है। जैसे साहित्य में नवरस का अध्ययन आवश्यक है, वैसे ही संगीत में भी रस-भाव का अध्ययन और विश्लेषण आवश्यक है। सब ललित कलाएँ भावों और रसों पर आधारित हैं।"[२७]

- प्राचीन-मध्यकालीन समय में जिस प्रकार से संगीत शिक्षा हुई, उसमें यदि रस-सिद्धांत पर सैद्धांतिक दृष्टि से अधिक ध्यान न भी केन्द्रित किया गया हो, तो भी कलाकारों की प्रस्तुति में नीरसता नहीं पायी गई। कारण संभवतः यह होगा, कि तालीम की शांति, गहनता, सघनता इतनी थी, कि उसमें अजाग्रत रूप से भी गुरु के द्वारा शिष्य को दी गई कला में रस-तत्त्व की उपस्थिति हुआ करती थी। वर्तमान - आधुनिक समय में जो जल्दबाज़ी में संगीत-शिक्षा होती है, उसमें तकनीकी दृष्टि से सही होने पर आगे चला जाया जाता है। कई बार ऐसा होता है, कि भावपूर्ण तालीम के लिए आवश्यक समय नहीं मिल पाता / नहीं दिया जाता। इस परिस्थिति में रस-सिद्धांत का यदि सैद्धांतिक शास्त्र - theory - के अंतर्गत विस्तृत अध्ययन करवाया जाये, तो क्रियात्मक प्रस्तुति पर उसका हकारात्मक असर होता है।

- प्राचीन कालीन भारत में संगीत की शिक्षा केवल गुरु-शिष्य परंपरा के अंतर्गत घराना-पद्धति में हुई। मध्यकाल में संस्थागत शिक्षा की शुरुआत हुई, परंतु काफी हद तक उसमें गुरु-शिष्य परंपरा के मूल्यों को संरक्षित रखा गया। संभवतः उसका कारण यह था, कि संस्था में नियुक्त शिक्षक स्वयं गुरु-शिष्य

परंपरा से तालीम ग्रहण किये हुए थे, जो उसके मूल्यों से भलीभाँति अवगत थे। परंतु वर्तमान - आधुनिक समय में घराना-पद्धति की अपेक्षा संस्थागत शिक्षा का व्याप तो बढ़ा ही है, साथ साथ उसमें संगीत-शिक्षा के लिए आवश्यक कुछ मूल्यों का ह्रास भी हो रहा है, जो अंततः सांगीतिक प्रस्तुति के सौन्दर्य एवं रसमयता पर नकारात्मक प्रभाव छोड़ता है। इनके हल पर विचार, कोशिश होना आवकार्य, अत्यंत ज़रूरी है, क्योंकि संगीत की संस्थागत शिक्षा वर्तमान समय की एक वास्तविकता है और अनिवार्यता भी।

- गुरु-शिष्य परंपरा अंतर्गत गिने चुने प्रतिभाशाली शिष्यों का स्वीकार किया जाता था तथा उनके खान-पान, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, इत्यादि का ख्याल करते हुए गुरु संपूर्ण व्यक्तित्त्व को सँवारकर उन्हें श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति के लायक, काबिल बनाते थे। गुरु के कम परंतु सक्षम शिष्य होते थे। संस्थागत शिक्षा में कम से कम विद्यार्थी की विद्या (कला) अनुकूल प्रतिभा, धैर्य एवं श्रद्धा को जाँचकर उन्हें प्रवेश दिया जाए, तो सराहनीय हो सकता है। अच्छे कलाकार बहार आने की संभावना बढ़ती है।

- संस्थागत शिक्षा में घरानेदार पद्धति की अपेक्षा शास्त्र पर अधिक बल दिया गया और उस पक्ष में विद्यार्थीओं ने ज्ञान भी अर्जित किया। परंतु रियाज़ पर बहुत कम लक्ष्य दिया जा रहा है। गुरु-शिष्य परंपरा में रियाज़ स्वांतःसुखाय किया जाता था, संस्थागत शिक्षा में मानो परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए किया जाता है ! स्वरलिपि के अत्याधिक उपयोग ने भी रियाज़ की आवश्यकता कम की है। इस अभिगम को बदलने का प्रयास होना चाहिए। क्योंकि समर्पण भाव से रियाज़ आत्म-परिष्कृति और रस-निष्पत्ति के लिए अनिवार्य है।

- गुरु-शिष्य परंपरा में गुरु शिष्य की क्षमता एवं प्रगति का अवलोकन करके तय करते थे, कि उसे कब, क्या तालीम देनी है। संस्था में पाठ्यक्रम होता है, जो

निश्चित समयावधि में पूर्ण करना होता है। ऐसी कोशिश की जाए, कि वह अत्याधिक बड़ा न हो, जिसे पूर्ण करने में समय कम पड़े, जल्दबाज़ी करनी पड़े और भाव-रस उजागर करने वाली सूक्ष्म तालीम को नज़रअंदाज़ कर दिया जाए, वह आवकार्य है। आगे चलने के साथ-साथ नीवीं शिक्षा पक्की होने के प्रति लक्ष्य होना चाहिए।

- हमेशा अत्यंत बड़े समूह में शिक्षा होने पर विद्यार्थी के प्रति वैयक्तिक ध्यान नहीं दिया जा सकता। समूह छोटा हो, या कुछ समय के लिए प्रत्येक विद्यार्थी पर व्यक्तिगत ध्यान दिया जा सके, प्रतिभा संपन्न तथा कारकिर्दी बनाने वाले विद्यार्थी का समय सामान्य, साधारण, शौखिया सीखते विद्यार्थी के साथ व्यय न हो, ऐसा आयोजन हो सके, तो उपयोगी है।

- तकनिकी सफाई को अत्याधिक महत्त्व देकर भाव पक्ष की अवहेलना करना निरर्थक है। शिक्षक का लक्ष्य यह होना चाहिए, कि विद्यार्थी केवल सही नहीं, बल्कि सौन्दर्यपूर्ण, रसपूर्ण प्रस्तुति देने सक्षम बनें। ऐसी सघन तालीम के लिए आवश्यकता के मुताबिक तास का समय बढ़ाया जा सकता है।

- शिक्षा के दौरान प्रत्येक विद्यार्थी तथा शिक्षकगण की प्रस्तुति के कार्यक्रम नियमित रूप से संस्था में होते रहे, वह अनिवार्यतः आवश्यक है। प्रस्तुति कला की रस-निष्पत्ति की तालीम प्रस्तुति करते-करते जो होती है, वह केवल वर्गखंड शिक्षा से कतई संभव नहीं है।

- शिक्षकों की सज्जता अति आवश्यक है। आवश्यकतानुसार बीच-बीच में घरानेदार गुरुओं को आमंत्रित करके उनके ज्ञान का लाभ संस्थाकीय विद्यार्थी भी ले सके, ऐसा प्रयास हो सकता है।

- इलेक्ट्रॉनिक साधनों की अपेक्षा प्राकृतिक वाद्यों का उपयोग अधिक हो सके, वह सराहनीय है। संगतकार जीवंत हो, वह इच्छनीय है।

- विद्यार्थी को छात्रवृत्ति मिल सके और वह अन्य किसी प्रकार की चिंता किये बिना संगीत-साधना में रत हो सके, ऐसा प्रयास आवकार्य है।

- वर्तमान समय की आवश्यकता अनुसार शास्त्रीय संगीत के उपरांत, उप शास्त्रीय, सुगम तथा लोक संगीत की भी थोड़ी सी शिक्षा हो पाए, तो विद्यार्थी को लाभदायी हो सकता है। इससे फायदा यह है, कि किसी भी प्रकार के श्रोता / दर्शक को रसानुभूति करवाने में वह निष्फल नहीं होगा। लोकरुचि के अनुसार प्रस्तुति कर पाएगा।

- संस्थागत शिक्षा में भी गुरु-शिष्य परंपरा की तरह परस्पर श्रद्धा, समर्पण, वात्सल्य और प्रेम भाव बना रहे, वह अति आवश्यक है, जो कि उत्कृष्ट कला-शिक्षा की नीवीं शर्त है।

वर्तमान संस्थाओं में घरानेदार शिक्षा पद्धति तथा संस्थागत शिक्षा पद्धति का परिमार्जित मिश्रण करने का प्रयास किया जाए, तो निश्चित रूप से संगीत शिक्षा क्षेत्र में प्रगतिकारक सिद्ध होगा।[२८]

- घराना-पद्धति हो, या संस्थाकीय शिक्षा, कला में कितना हाँसिल किया, उसका महत्त्व कैसे हाँसिल किया, उसीसे है - यह बात गुरु तथा शिष्य, दोनों के लक्ष्य में होनी चाहिए। राग-संख्या बढ़ने से राग-ज्ञान नहीं बढ़ सकता। पंडित नित्यानंद हल्दीपूर जी का कथन है, कि "गुरुमाँ (विदुषी अन्नपूर्णा देवी) के अनुसार एक आयुष्य में कलाकार चार-पाँच राग साध सकता है। बाकी के राग तो केवल 'दुकानदारी' है।"!!

- तालीम के दौरान विद्यार्थी - शिष्य की विशिष्ट क्षमता, रुचि, मर्यादा, इत्यादि का खयाल गुरु - शिक्षक को होना चाहिए। इन चीज़ों को ध्यान में रखकर आवश्यकता अनुसार तालीम होनी चाहिए। पंडित नित्यानंद हल्दीपूर जी का मंतव्य है, "मेरी गुरुमाँ (विदुषी अन्नपूर्णा देवी) तथा दादागुरु (बाबा अलाउद्दीनखान साहब) ने शिष्य के विशेष लक्षण के अनुसार तालीम दी। इसलिए उनके हरेक शिष्य की निजी पहचान है।" भावाभिव्यक्ति के लिए व्यक्तित्त्वलक्षी तालीम आवकार्य है।[२९]

- राग-माला चित्रावली तथा राग-ध्यान के श्लोक और दोहे राग का परिचय देने वाले चित्र एवं साहित्य कला के माध्यम हैं। चित्र का स्वरूप स्थिर एवं दृश्य है, साहित्य स्पष्टतम अर्थाभिव्यक्ति है। अतः इनका उपयोग राग-शिक्षा के अंतर्गत, शुरुआती स्तर के दौरान किया जाए, तो विद्यार्थी को राग का स्वरूप हुबहु समझने में सहायक सिद्ध हो सकता है। इनसे राग-रस दृश्य एवं अर्थ-सभर स्वरूप में स्पष्ट रूप से अवगत हो सकता है।

- अवलोकन कला की आवश्यकता है। गुणी कलाकारों की प्रस्तुति का रसास्वादन करके उसका विश्लेषण, चिंतन, मनन, मंथन विद्यार्थी या नवोदित कलाकार की रसाभिव्यक्ति को परिष्कृत करता है। तालीम के दौरान कुछ समय केवल श्रवण या दर्शन के लिए निश्चित किया जाए, जिस पर आवश्यकतानुसार गुरु शिष्यों के समक्ष चर्चा, विचार-विमर्श करें, उनका मार्गदर्शन करें, तो लाभप्रद हो सकता है। इन गुणी कलाकारों में गुरु स्वयं भी हो सकते हैं, बैठकों या मेहफ़िलों में उपस्थित अन्य आमंत्रित कलाकार भी हो सकते हैं, तथा वर्तमान समय में जो सर्वाधिक सुलभ हैं, ऐसे दृश्य-श्राव्य मुद्रण माध्यम भी हो सकते हैं। जब तीसरे व्यक्ति के रूप में शिष्य गुरु से समझेगा, कि प्रस्तुति में कहाँ उत्कृष्ट रस-निष्पत्ति हुई, कहाँ साधारण-सी और कहाँ रस-

हानि हुई, तब उसका इन बातों पर विशेष ध्यान पहुँचेगा और उसका असर उसकी अपनी प्रस्तुति पर अवश्य होगा।[३०]

पंडित सुरेश तलवलकर जी ने इसे संक्षेप में स्पष्ट समजाया है : "सीख्या-देख्या-परख्या - सीखो, दूसरों को देखो और फिर खुद को, खुद की कला को परखो।"[३१]

- रसाभिव्यक्ति, भावाभिव्यक्ति के लिए कलाकार की भावानुभूति अनिवार्य है। यह अनुभूति सिर्फ नकल से नहीं उभर आती। उसके लिए स्वयं के मनोभाव, कल्पना, विचार को टटोरना पड़ता है। इसके लिए कलाकार तभी सक्षम हो पाएगा, यदि उसे तालीम के दौरान ऐसा करने का मौका मिला हो, या ज़रूरत पड़ी हो। तालीम के दौरान गुरु या शिक्षक को शिष्य - विद्यार्थी की मौलिकता को महत्त्व देना चाहिए। उनका ध्यान होना चाहिए, कि वो केवल नकल न करें, बल्कि स्वयं का भी कुछ रखें। वास्तव में हुबहु नकल कर लेने से मौलिक भाव, कल्पना, विचार से कुछ थोड़ा भी प्रस्तुत करना काफी कठिन है, परंतु यही तालीम का तात्पर्य है। नकल तो ध्वनि-मुद्रण सुनकर भी हो जाएगी। नकल से शिष्य, विद्यार्थी की क्षमता दिख भी जाए, तो समझ का कोई प्रमाण नहीं मिल सकता। उदाहरण स्वरूप, उसे सिर्फ हूबहू नकल का आदेश दिया जाए, तो वह गुरु, शिक्षक के बाद गा लेगा 'ध नि प'। उसे मौलिक रूप से गाने का प्रयास करने को कहा जाए, तो शायद वह गा दे 'नि ध प'। तब गुरु बात सकते हैं, कि यह दरबारी का चलन नहीं है। मौलिक प्रयास ही त्रुटियों को समझकर उन्हें सुधारने का अवसर दे सकता है। मौलिकता ही संगीत को, कला को जीवंत, नावीन्यपूर्ण, वैविध्यपूर्ण रखती है। उसके बिना तो सभी कलाकार की प्रस्तुति एक समान हो जाती ! अतः यह अनिवार्य है, कि तालीम के दौरान शिष्य को छोटे-छोटे मौलिक प्रयास अपने मनो-मस्तिष्क को टटोरके करने का अवसर मिले। यह कार्य गुरु के लिए कड़ा

धैर्य और अपार वात्सल्य रखकर किया जाने वाला होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। परंतु यही प्रयास भावि पीढ़ी के ऐसे कलाकार का निर्माण करेगा, जो वाकई में रसपूर्ण, भावपूर्ण संगीत प्रस्तुत कर सकेगा, गुरु की परंपरा में रहते हुए भी अपनी अलग पहचान बना पाएगा और वास्तव में कुछ योगदान दे पाएगा।[३२]

पंडित सुरेश तलवलकर जी के इस संबंध में विचार है, "विद्या बाहर से अंदर जाती है, कला अंदर से बाहर आती है। खुद की सोच होना आवश्यक है। ज्यादा नया न हो, तब भी। Freshness ही सुंदरता है, अनिवार्य है।"[३३]

दी गई विद्या (मौलिक) कला बनकर शिष्य के माध्यम से बाहर आए, यही गुरु का प्रयास, तात्पर्य एवं महत्त्व हो सकता है।

- नर्तन में पारंपारिक रचनाओं के उपरांत वर्तमान रस-रूचि के अनुसार नावीन्यपूर्ण, प्रयोगात्मक रचनाओं का निर्माण एवं प्रस्तुतीकरण भी होता है, जो रसिक गण को पसंद भी आता है। यही यदि गायन तथा संभवतः वादन में भी अपनाया जाए, तो सराहनीय हो सकता है। गायन में नवीन साहित्य, वादन में वाद्यवृंद, इत्यादि प्रयोग हो सकते हैं।

- वर्तमान शास्त्रीय संगीत में रसिक को किसी भी प्रकार से आश्चर्य, चमत्कृति का अनुभव करवाना, उसे दिग्मूढ़ या आश्चर्यचकित कर देने का प्रमाण बढ़ता जाता है। विशेषतः नवोदित कलाकारों में। रस-निष्पत्ति का स्थान मानो क्षमता-प्रदर्शन ने ले लिया है। यह केवल अद्‌भुत रस की छाया-सी होती है, जो मन को प्रभावित कर भी ले, तो आत्मा तक असर नहीं कर सकती। यह अभिगम में थोड़ा सा बदलाव आवकार्य है, इच्छनीय है। कलाकार का लक्ष्य चमत्कृति के स्थान पर रसाभिव्यक्ति, भावाभिव्यक्ति हो, तो रस-निष्पत्ति के परिप्रेक्ष्य से कला उत्कृष्ट होगी।

पंडित सुरेश तलवलकर जी का कथन, इस संदर्भ में है, कि "चमत्कृति जल्दी आकर जल्दी खत्म हो जाती है, असर टिकता है।"[३४]

- कलाकार रियाज़ के माध्यम से स्वयं को परिष्कृत करें, विकसित करें और प्रस्तुति के माध्यम से स्वयं को जाँचे, परखे, वह सराहनीय है। कला कलाकार का प्रतिबिंब है। प्रतिबिंब स्वयं को देखने, स्वयं को सँवारने के लिए आवश्यक है।

  पंडित सुरेश तलवलकर जी का मंतव्य है, "शास्त्र और विद्या बुद्धि से, तंत्र शरीर से और कला मन, आत्मा से संबंधित, संचालित है। शरीर, बुद्धि, मन और आत्मा - कौन सा स्तर अपने संगीत में ज्यादा है, वह स्वयं देखें। दूसरों को क्या दिखाना ?!"[३५]

- परिवर्तन सृष्टि का नियम है, जो मनुष्य को भी प्रभावित करता है। मनुष्य से जुड़ी हर विधा उसके साथ परिवर्तित होती रही है, जिनमें कला भी समाविष्ट है। रस-निष्पत्ति के लिए कला का रसिक के भाव-जगत को स्पर्शने के लिए काबिल होना अनिवार्य है। अतः मनुष्य के बदलते भाव-जगत के साथ कला में परिवर्तन, नावीन्य अति स्वाभाविक है। परंतु यह नावीन्य यदि भाव-जगत को छोड़कर, सतत कुछ नया करने के लिए होने लगे, तो वही रस-हानि का करण भी बन सकता है। यह विवेक कलाकार में हो, वह सराहनीय है। रस-मूलक परंपरागत मूल्यों को कायम रखना उचित है।

  पंडित सुरेश तलवलकर जी ने इसी संदर्भ में कहा है, "परंपरा की इज्ज़त करके नवता लाइए। मूल्य बनाए रखें।"

  पंडित देबू चौधरी जी का कथन है, "परंपरा बुनियाद है, उसे कायम रखते हुए innovations आवकार्य हैं।"[३६]

- प्रस्तुति से पहले अत्यंत छोटी-छोटी बातों पर दिया गया ध्यान प्रस्तुति की रसमयता में वृद्धि करता है। इसके अंतर्गत वाद्यों की मिलावट, घुँघरू की जाँच, संगतकार से थोड़ा सा संगत का रियाज़, इत्यादि तो समाविष्ट हैं ही। साथ-साथ कलाकार को Sound और light (नर्तन में) system का भी बारीक अभ्यास होना आवश्यक है। वर्तमान समय में अक्सर कोई भी मेहफ़िल माईक और लाइट के बिना होती नहीं है। माईक का ट्यूनिंग कैसे करना है, उसका ज्ञान एवं निजी पसंदगीदा मत कलाकार को होना चाहिए। उसके सूचन एवं मांग के आधार पर माईक और लाइट सेट होने पर उसकी पसंद का outcome मिलता है, जो रस-निष्पत्ति पर अत्याधिक असर करता है।

- वर्तमान समय में मानव जीवन में ज़रूरी प्रायः सभी विद्याओं को, या उनके प्रारंभिक स्वरूप को प्राथमिक शिक्षण में अनिवार्य विषय के रूप में स्थान दिया गया है। कमनसीब से कला इनमें शामिल नहीं है। कलाओं को स्थान दिया भी गया, तो वैकल्पिक विषय के रूप में। इसका परिणाम यह होता है, कि समाज में भाषा, गणित, विज्ञान, पर्यावरण, समाजशास्त्र, इत्यादि विषयों का प्रारंभिक ज्ञान जिन्हें होता है, उन्हें भी कला का नहीं होता। प्राथमिक शिक्षा के अंतर्गत संगीत सहित विभिन्न कलाओं को स्थान देने के मुख्य दो लाभ हैं। एक तो यह, कि कला के प्रति समज, रुचि रखने वाला रसिक वर्ग बढ़ेगा। और दूसरा, जब विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए विश्व-विद्यालय में जाता है, तो उसे अन्य विषयों का प्रारंभिक ज्ञान होता है। जैसे, B.A. के विद्यार्थी को वर्णमाला नहीं सीखानी पड़ती। या B.Sc. के विद्यार्थी को अंक नहीं सीखाने पड़ते। पर संगीत के विद्यार्थी को सरगम से सीखाना पड़ता है। इस दृष्टि से देखें तो कॉलेज में प्रथम वर्ष के संगीत के विद्यार्थी का स्तर शाला की प्रथम कक्षा जैसा होगा। इनका विकास अन्य विषय के विद्यार्थी की अपेक्षा काफी पीछे रहेगा। और उनकी कला को उत्कृष्ट होने में भी काफी समय लगेगा। वैसे

भी, संतुलित व्यक्तित्व-विकास के लिए अन्य विषयों की भाँति कला का प्राथमिक परिचय एवं ज्ञान लाभदायी है। अतः प्राथमिक शिक्षा में कलाओं को आवश्यक विषय के रूप में स्थान मिलना सराहनीय है।

संदर्भ

१ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ३३।

२ BHU webinar Dated 15-16 June, 2020.

३ अग्निहोत्री आर. एम. (१९७३). संगीत निबंध. रामचन्द्र संगीतालय, ग्वालियरमाला, पृ. ११९।

४ BHU webinar Dated 15-16 June, 2020.

५ Macpherson, Stewart. (1936). The Appreciation, or Listening, class, Revised edition. Joseph Williams limited, London, P. 1-4.

६ BHU webinar Dated 15-16 June, 2020.

७ अग्निहोत्री आर. एम. (१९७३). संगीत निबंध. रामचन्द्र संगीतालय, ग्वालियरमाला, पृ. २४।

८ शर्मा, प्रेमलता. (१९८८). रस-सिद्धांत : मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़, हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला-७. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. ८२-८३।

९ Macpherson, Stewart. (1936). The Appreciation, or Listening, class, Revised edition. Joseph Williams limited, London, P. 41.

१० Macpherson, Stewart. (1936). The Appreciation, or Listening, class, Revised edition. Joseph Williams limited, London, P. 2.

११ Rao, Krishna P. (1923). The psychology of music, Enlarged edition. Mysore education service, Bangalore, P. 26-27.

१२ अग्निहोत्री आर. एम. (१९७३). संगीत निबंध. रामचन्द्र संगीतालय, ग्वालियर, पृ. ७७-७८, ८८।

१३ (२००१). संगीत - रस, परंपरा और विचार. संपादन चौरसिया, ओमप्रकाश. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. ३८।

१४ BHU webinar Dated 15-16 June, 2020.

१५ वही।

१६ अत्रे, प्रभा. (२०१६). स्वरमयी. अनुवाद छापेकर नीलिमा. बी. आर. रिधम्स, दिल्ली, पृ. १०७-११०।

१७ वही, पृ. ११३-११५।

१८ वही, पृ. ४९।

१९ अग्निहोत्री आर. एम. (१९७३). संगीत निबंध. रामचन्द्र संगीतालय, ग्वालियरमाला, पृ. २४।

२० कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ५०-५१।

२१ Sharma, Premlata. (2000). Indian aesthetics and musicology. Editor Sharma U. Amnaya-Prakasana, Varanasi, P. 93-94.

२२ शर्मा, प्रेमलता. (१९८८). रस-सिद्धांत : मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़, हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला-७. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. १०७।

२३ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ११५, २९२।

२४ शर्मा, प्रेमलता. (१९८८). रस-सिद्धांत : मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़, हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला-७. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. १११-११२।

२५ बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). भरत का संगीत सिद्धांत, हिन्दी-समिति-ग्रंथमाला-२८, द्वितीय संस्करण. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. ३०।

२६ अग्निहोत्री आर. एम. (१९७३). संगीत निबंध. रामचन्द्र संगीतालय, ग्वालियरमाला, पृ. २१०; वसंत. (१९९४). संगीत विशारद, बीसवाँ संस्करण. संपादन गर्ग लक्ष्मीनारायण. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. ५६६-५६७; शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ३२४-३३५।

२७ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १११-११२।

२८ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. २८४-२९३; Sage open (October-December 2016), P. 1-2.

२९ BHU webinar Dated 15-16 June, 2020.

३० Macpherson, Stewart. (1936). The Appreciation, or Listening, class, Revised edition. Joseph Williams limited, London, P. 89.

३१ BHU webinar Dated 15-16 June, 2020.

३२ Macpherson, Stewart. (1936). The Appreciation, or Listening, class, Revised edition. Joseph Williams limited, London, P. 34-35, 38-39, 87.

३३ BHU webinar Dated 15-16 June, 2020.

३४ वही।

३५ वही।

३६ वही।